सुन्दर साहित्य-माला

पद्यप्रसून	१॥)	सुधासरोवर	१)
दागे जिगर	१।)	किसलय	१॥)
निर्माल्य	१)	दुर्गादत्त परमहंस	२॥)
सौरभ	१)	वाग्विलास	१॥।)
कविरत्न 'मीर'	१॥।)	रसकलस	४)
बिहार का साहित्य	१॥।)	कैलास-दर्शन	१॥)
देहाती दुनिया	१॥)	आदर्श राघव	॥।)
प्रेमपथ	≈)	उत्तराखंड के पथ पर	२॥)
नवीन चीन	२)	आवारे की यूरोप-यात्रा	२॥)
प्रेमिका	२)	रेणुका	२)
विमाता	२)	शिकारियों की सच्ची कहानियाँ	१॥)
एकतारा	१)	पारिजात	४)
विभूति	२)	रसवन्ती	॥)
अशोक	१।)	विश्वदर्शन	१)
नवपल्लव	१।)	कानन	१॥)

पुस्तक-भंडार लहेरियासराय (बिहार-प्रान्त)

सत्यं शिवं सुन्दरम्

कविरत्न 'मीर'

[कविवर 'मीर' और उनका काव्य]

श्रीरामनाथ 'सुमन'

पुस्तक-भंडार,
लहेरियासराय और पटना

नैवेद्य

जिसे पाकर हर्षातिरेक से हृदय की गूढ़ वेदना निर्मम संसार की हृदय-हीनता पर रो पड़ती थी; जिसके सामने प्यार प्रकट करने की इच्छा का जन्म होते ही कलेजा चूर-चूर होकर चरणों में मोती बिखेरने लगता था; जिसके दर्शन के लिये, अन्तस्तल के भी अन्तर से, संचित प्यार शत-शत धाराओं में फूट कर बह निकलता था; जो मेरे सबसे निकट था, किन्तु अब सबसे दूर 'दीख पड़ता' है; जो स्वप्न की नाईं अस्पृश्य, किन्तु स्मृतिमान्, परिवर्तन के समान सत्य, किन्तु चंचल, मृत्यु की भाँति दृढ़, किन्तु सुखदायी और माता की चुम्बन-चेष्टा पर प्रसन्न बच्चे की हास्यरेखा के समान मनोमुग्धकर तथा पवित्र है; जिसे चाहने की इच्छा रखकर भी चाह नहीं सकता, प्यार करने की चेष्टा करके भी प्यार नहीं कर सकता, रोने की हौंस होने पर भी जिसकी स्मृति में रो नहीं सकता, अपने उसी आराध्य-देव के चरणों में आँसुओं की यह अञ्जलि, अतीत के श्मशान पर जलनेवाली स्मृति-चिन्ता का यह नैवेद्य, परम प्रेम एवं श्रद्धा सहित समर्पित है।

—'सुमन'

श्री रामनाथ 'सुमन'-लिखित

दाग़े 'जिगर'

उर्दू के महाकवि 'जिगर' की जीवनी, कविताएँ, आलोचना इत्यादि।

सजिल्द, १।)

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना

कृतज्ञता-ज्ञापन

इस ग्रंथ के लिखने में मुझे जिन पुस्तकों से सहायता लेनी पड़ी है, उनकी सूची नीचे दी जाती है। इनके लेखकों के प्रति मैं अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ।

१—आबेहयात (मौ० आज़ाद)—लाहौर से प्रकाशित अष्टमावृत्ति।

२—कुलियाते 'मीर'—नवलकिशोर प्रेस, कानपुर द्वारा प्रकाशित।

३—बिहारी-सतसई, भाग १ (सतसई-संजीवनी-भाष्य—पं० पद्मसिंह शर्मा)।

४—नखशिख (चन्द्रशेखर)—भारतजीवन प्रेस, काशी।

५—अंगदर्पण (रसलीन)—भारतजीवन प्रेस, काशी।

६—बिहारी-बिहार—(स्व० पं० अम्बिकादत्त व्यास)।

७—शृंगारसप्तशतिका—(बिहारी के दोहों पर संस्कृत दोहों में टीका) टीकाकार, परमानन्द। विद्योदय प्रेस (काशी) द्वारा प्रकाशित (अप्राप्य)।

८—कुलियाते सौदा—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

९—तज़किरा शुअराय उर्दू—'अंजुमन तरक्क़िए उर्दू, हैदराबाद (दकन) से प्रकाशित।

१०—ग़ालिब, ज़ौक़, जुरअत, बक़ा, अकबर, इश्र, दाग़, बयाँ इत्यादि की फुटकर रचनाएँ।

११—सूर, तुलसी, शंकर, प्रसाद, बेनी इत्यादि की फुटकर रचनाएँ।

१२—वेंकटाध्वरि, पण्डितराज, श्रीहर्ष इत्यादि की फुटकर रचनाएँ।

१३—सरोजिनी, टागोर, जानडून इत्यादि की फुटकर रचनाएँ।

१४—अन्य कवियों एवं लेखकों की सरस सूक्तियाँ।

नोट—जीवनी और आरंभ का भाग 'आबेहयात' के आधार पर लिखा गया है।

इस पुस्तक के लिखने में सबसे अधिक सहायता मुझे अपने 'कैलास' से मिली है। पर मैं उसके बन्धुत्व को कृतज्ञता और धन्यवाद से परे समझता हूँ।

अपने परमप्रिय मित्र और हितैषी श्रीयुत बाबू शिवपूजन सहाय से इसके प्रकाशन में अद्वितीय सहायता प्राप्त हुई है। उन्होंने समय निकालकर 'परिचय' लिख दिया है। इसके लिये शब्दों की अपेक्षा मेरा हृदय ही उनका अधिक कृतज्ञ है।

हिन्दी-उर्दू-साहित्य-संसार के प्रकाशमान् चन्द्रमा मेरे आदरणीय और कृपालु मित्र प्रेमचन्दजी ने मीर के काव्य पर 'दो शब्द' लिख दिया है, इसके लिये उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

काशी
२७।२।२६

श्रीरामनाथ 'सुमन'

दो शब्द

'मीर' उर्दू-शायरी के ख़ुदा कहे गये हैं और इसमें लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है। ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर रचना उर्दू में और किसी की नहीं। 'ग़ालिब' ने भी अगर उस्ताद माना तो 'मीर' ही को। 'मीर' ने शायरी का सच्चा मर्म समझा था; उनकी शायरी में ऐसे जज़बात बहुत कम हैं जिनके समझने और अनुभव करने में किसी को दिक़्क़त हो। वह फारसी तरकीबों से कोसों भागते हैं और ज़ुल्फ़ व कमर की उलझनों में बहुत कम फँसते हैं। उनकी शायरी जज़बात की शायरी है, जो सीधे हृदय में उतर कर उसे हिला देती है।

दिल्ली की शायरी का रंग 'मीर' ही का क़ायम किया हुआ है, और अब क़रीब दो सौ बरस तक लखनऊ की तंग और गंदी गलियों में भटकने के बाद उसने दिल्ली की तरफ़ रुख़ किया है। आज लखनऊ के कविगण भी दिल्ली ही के रंग पर चलते नजर

आते हैं। यों कहो कि 'मीर' ने उर्दू-कविता की मर्यादा स्थापित कर दी है और जो कवि उसकी उपेक्षा करेगा वह कृत्रिमता के दलदल में फँसेगा।

'मीर' का कलाम उठाकर देखिये—कितनी ताज़गी है, कितनी तरावत; दो सदियों के खिले हुए फूल आज भी वैसे ही दिल को ठंडक और आँखों को तरावट पहुँचाते हैं। मालूम होता है, किसी उस्ताद ने ही आज ही ये शेर कहे हों। ज़माना ने उनसे बहुत पीछे के शायरों के कलाम को दुर्बोध बना दिया, मगर 'मीर' की ज़ुबान पर उसका ज़रा भी असर नहीं पड़ा। मित्रवर रामनाथ लाल जी 'सुमन' ने मीर पर यह आलोचनात्मक ग्रंथ लिखकर हिन्दी-भाषा का उपकार किया है।

—प्रेमचन्द

परिचय

मैंने लड़कपन में तीन-चार वर्ष तक उर्दू-फ़ारसी की आरम्भिक शिक्षा पाई थी—करीमा, ख़ालकबारी आदि कण्ठस्थ कर चुका था। फिर स्कूल में भी मैंने छः वर्ष तक उर्दू-फारसी पढ़ी। पर होनहारी की बात, मैट्रिक्युलेशन-क्लास में तरक्की पाने से एक साल पहले ही उर्दू फारसी का साथ छूटा, और हिन्दी से नाता जुड़ा। किन्तु उर्दू लिखने-पढ़ने का कुछ-कुछ शौक बना रहा।

सन् १९१२ में मैट्रिक्युलेशन पास करने के बाद भी बनारस की अदालत-दीवानी में कुछ दिनों तक काम करने से उर्दू लिखने-पढ़ने का अच्छा अभ्यास रहा। किन्तु १९१४ ई० से आरा के एक हाई स्कूल में हिन्दी-शिक्षक होकर जब प्राइवेट तौर से आई० ए० पढ़ने लगा, तब हिन्दी की ओर ऐसा झुका कि उर्दू का पिंड बिलकुल छूट गया और ऐसा छूटा कि अब उर्दू एकदम भूल-सी गई।

अफसोस! उर्दू को छोड़े लगभग बारह बरस हो गये। हिन्दी में उर्दू-साहित्य पर जो पुस्तकें निकलती हैं, उनके संग्रह और अध्ययन के सिवा अब उर्दू से क़तई सरोकार न रहा। अब तो यह कहते हुए भी मुतलक शर्म नहीं आती कि मैं उर्दू कुछ नहीं जानता। फिर भी मेरे मित्र सुमनजी का अटल आग्रह है कि उनकी इस पुस्तक के बारे में परिचय के दो शब्द मैं लिख ही दूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि मीर' जैसे उद्भट

उर्दू-कवि पर लिखे गये इस आलोचनात्मक ग्रंथ के विषय में क्या लिखूँ। अच्छा होता अगर कोई उर्दूभाषाभिज्ञ हिन्दी का विद्वान् इस पुस्तक पर अपनी अमूल्य सम्मति प्रकट करता, जैसा कि सुमनजी के 'दाग़ेजिगर' पर श्रद्धेय प्रेमचन्दजी ने किया है। पर अब जान छूटने की नहीं, इसलिये फिसल पड़ने की लाज छोड़कर ख़्वाम-ख़्वाह टाँग अड़ाता हूँ।

जिस समय मैं लखनऊ के माधुरी कार्यालय में काम करता था, उसी समय सुमनजी ने इस पुस्तक की हस्त-लिखित प्रति मेरे पास भेज दी थी—सिर्फ पढ़ जाने के लिये। इसके साथ दाग़ेजिगर की कापी भी थी। मुझे दोनों पुस्तकें खूब पसन्द आईं। दोनों को मैंने अपने एक मित्र प्रकाशक के पास भेज दिया। साथ ही, प्रकाशित करने का अनुरोध भी किया। ईश्वर की कृपा, वे राजी हो गये। आज फल आपके सामने है। आशा है, इस पुस्तक को अपना-कर आप प्रकाशक को उत्साहित करेंगे।

कृपापूर्वक आप ही पढ़कर देखिये कि पुस्तक कैसी है। मेरा आसरा छोड़ दीजिये। मैं एक प्रचलित प्रथा का पालन कर रहा हूँ। सच मानिये, 'दाग़ेजिगर' पर प्रेमचन्दजी ने जो कुछ लिखा है, उसका शतांश भी यदि मैं 'मीर' पर लिख सकता, तो एक मित्र का आग्रह सफल हो जाता। किन्तु, टूटे-फूटे गद्य के सिवा कभी पद्य' तक लिखने का तो सौभाग्य ही नहीं हुआ, फिर कविता' की बारीकी परखना—और उसकी आलोचना के विषय में रायज़नी करना—मुझसे कब हो सकता है? सुमनजी इसे भले ही न समझें; पर आप तो समझ सकते हैं?

जिस 'मीर' की प्रशंसा करते हुए 'ग़ालिब' जैसा दार्शनिक कवि नहीं अघाता और जिस प्रतिभा की सरस स्मृति में गद्गद

होकर आतिश, दाग़ और उस्ताद जौक ने बार-बार अपनी आँखों के मोती बिखेरे हैं, उसके सम्बन्ध में रायज़नी करना हमारा काम नहीं। वही याद आ जाता है:—"साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे"! पर मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता और आवृत्ति-दोष के नशे में झूमकर मैं भी इतना कह देता हूँ कि 'मीर' जैसा रुदनशील और करुणागायक उर्दू के प्रथमार्द्धकाल में कोई नहीं हुआ है। उसमें शोखी नहीं, सुषमा नहीं, चुलबुलाहट और मुस्कुराहट नहीं, अविश्रान्त रुदन है। उसकी बाटिका में बहार कभी न आई, सदा ख़िज़ाँ के झोंके आते रहे और अन्त में प्रेम का वह बन्दी सिसक-सिसककर ही मर गया!

कुछ नमूने उपस्थित करता हूँ—

आने के वक़्त तुम तो कहीं के कहीं रहे।
अब आये तुम तो फ़ायदा? हमही नहीं रहे॥

❀ * ❀

अब के जुनूँ में फ़ासला शायद न कुछ रहे,
दामन के चाक और गरेबाँ के चाक में!

* * ❀

'मीर' इन नीमख़ाब आँखों में,
सारी मस्ती शराब की-सी है!

❀ * ❀

मक़दूर तक तो ज़ब्त करूँ हूँ पै क्या करूँ।
मुँह से निकल ही जाती है यक बात प्यार की॥

❀ * *

रहे मर्ग से क्यों डराते हैं लोग।
बहुत इस तरफ़ को तो जाते हैं लोग॥

* * *

यही जाना कि कुछ न जाना हाय !
सो भी एक उम्र में हुआ मालूम ॥

* * *

बन जो कुछ बन सके जवानी में ।
रात तो थोड़ी है बहुत है साँग ॥
'मीर' बन्दों से काम कब निकला ?
माँगना है जो कुछ ख़ुदा से माँग ॥

* * *

वस्ल में रंग उड़ गया मेरा ।
क्या जुदाई को मुँह दिखाऊँगा ॥

* * *

वह दिन गये कि आँखें दरिया सी बहतियाँ थीं ।
सूखा पड़ा है अब तो मुद्दत से यह दोआबा ॥

* * *

होश जाता रहा निगाह के साथ ।
सब्र रुख़सत हुआ यक आह के साथ ॥

* * *

उल्टी हो गईं सब तदबीरें कुछ न दवा ने काम किया ।
देखा इस बीमारे दिल ने आख़िर काम तमाम किया ॥
अहदे जवानी रो रो काटा पीरी में लीं आँखें मूँद ।
यानी रात बहुत थे जागे सुबह हुई आराम किया ॥

अब रही सुमनजी की बात । सुमनजी मेरे अन्तरंग मित्रों में हैं । इसलिये उनकी योग्यता या रचना के विषय में, पूरी जानकारी रखते हुए भी मैं एक शब्द लिखना नहीं चाहता । आवश्यकता भी नहीं है । पुस्तक पढ़ जाने पर साफ मालूम हो जायगा कि वे कितने पानी में हैं । पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से उनकी

अध्ययनशीलता प्रकट होती है। मुझे सन्तोष है कि पहले-पहल पुस्तक-रूप में वे ऐसी अच्छी चीज़ लेकर साहित्यक्षेत्र में आये। परमात्मा उनका मनोरथ सिद्ध करे।

विनयावनत
शिवपूजन सहाय

मतवाला-'मंडल'
कलकत्ता
१९२६ ई०

श्रीरामनाथ 'सुमन'-लिखित

शेरशाह

इतिहास-प्रसिद्ध मुसलमान-बादशाह की प्रामाणिक जीवनी। हिन्दी में अपने ढंग की बिलकुल अकेली पुस्तक।

सचित्र, ।)

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना

बेहोश लहरों में—

नहीं जानता कि दुनिया में कहीं मदिरा की कोई स्रोतस्विनी है या नहीं, पर एक दिन अनायास ही आँखें मूँदकर देखा था कि हृदय की हल्की नसों के बीच अधरों तक छलकता हुआ एक प्याला हँस रहा है ! मेरे होश उड़ गये—इधर-उधर देखा, कोई नहीं था। काँपते हाथों से उसे उठाया, पीने की इच्छा नहीं थी, पर ओठों ने 'अपनी चीज़' देखकर ज़बरदस्ती चूम ही लिया ! आँखें झुक गईं; दिल पानी बनकर बह गया !

वह प्याले की पहली साँस थी जिसने मेरे कलेजे में जीवन का सारा पराग बिखेर दिया। कुछ लड़कपन का कुतूहल था, कुछ यौवन की उमंगें थीं। प्रलोभन ने करवट ली, उत्कंठा ने ठेस मारकर उसे जगा दिया। आँखें मूँदकर, दिल की सारी बेकली के बल पर, मधुपात्र की वह हँसी अपनी दुनिया में लुटाने लगा। तबसे आज तक कितने दिन, कितनी रातें बीत गईं, वह खाली

न हुआ ! अब भी उसकी वह हँसी वैसे ही हँस रही है;—अब भी न जाने किस दुनिया की बेहोशी, न जाने किन आँखों का उनींदापन, उसमें ऐसे मधुर भाव से सोया हुआ है !

वह लहरों की कभी समाप्त न होनेवाली प्यास थी। उस समय होश नहीं थे कि कुछ समझता, पर आज तो उस प्यास में ही किसी अदृश्य जगत् की छाया प्रत्यक्ष देखता हूँ। अब तो जीवन की शराब में, सर झुकते ही, अन्तर के परमाराध्य को पा जाता हूँ !

जीवन के इस छायावाद को आज समझ पाया हूँ। जब नहीं समझा था, तब समझने की इच्छा भी नहीं थी—आवश्यकता भी नहीं थी। यात्रा के पहले ही यह ज्ञान नहीं हो जाता कि थका-वट में क्या आनन्द है ? रोने में हँसने की सार्थकता, कलेजा भिगोने पर ही समझ में आती है ! मनुष्य के अन्तर का यह रहस्य सब नहीं समझ पाते; न समझ पाने में ही जगत् का जीवन है। दुनिया के बाज़ार में मनुष्य के नाम पर जब देवता बिकता हो तब यही समझना चाहिये कि अन्तर में जीवन की बेहोश लहरें नाच रही हैं !

× × × ×

मेरी यह रचना उस ज़माने के पागलपन की पहली लहर है जिसने मुझे असीम मादकता पर बलिदान कर दिया है ! इसमें कुछ नहीं है, पर आपपर बेहोशी के दो-चार छींटे पड़ जायँगे, यदि आप उनका आलिंगन कर सकें।

—श्रीरामनाथ 'सुमन'

भूमिका

इस पुस्तक के विषय में कुछ कहने से पूव यह समझ लेना अधिक आवश्यक है कि 'मीर' की रचना का उद्देश्य क्या है और उनके व्यक्तित्व के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ?

पहले प्रश्न का उत्तर तार्किक लोग जरा कठिनता से पा सकेंगे; परन्तु मैं एक सहृदय लेखक के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकता हूँ कि कवि (सच्चे कवि) की रचना का उद्देश्य अनन्त है। अतएव साधारण रूप में कहा जा सकता है कि कवि की रचना का उद्देश्य कुछ निश्चित नहीं है।

जो लोग, 'प्रकृत काव्य का क्या उद्देश्य है', यह प्रश्न करते हैं उनसे मैं पूछता हूँ कि 'इस अनन्त सीमारहित प्रशस्त नभो मंडल का क्या उद्देश्य है ? घनघोर जनशून्य अरण्य में नन्दन-कानन के पुष्पों को भी लजानेवाले अनेक फूल खिलते और जगमगाते हैं, कोसों तक अपना स्वर्गीय सौरभ फैलाते हैं। ये पुष्प मनुष्य के स्पर्श वा उसकी दृष्टि से कभी कलुषित नहीं हुए, इन पुष्पों की उत्पत्ति का क्या रहस्य है ? हवा के झकोरों से लहरें मारनेवाला

उदधि कौन-से नैतिक तत्त्व की सृष्टि करता है' ?* इन प्रश्नों के उत्तर में ही इस प्रश्न का उत्तर छिपा है।

कवि की रचना किसी भी उद्देश्य से नहीं होती, वह अनुभूत दुःख के अनन्त रहस्यों को उनके स्वाभाविक रूप में चित्रित कर देता है। सुख की अनादि तरंगों को वह अपने प्रशस्त हृदय पर उठनेवाली विराट् भावनाओं का प्रतिबिम्ब समझता है; वह दुःख-सुख, पाप-पुण्य, सबका समान भाव से आलिंगन करता है। उसकी अनन्त सहृदयता उसके दृष्टिकोण को भी प्रशस्त कर देती है और वह अभेदभाव से विश्व में विचरण करता है।

यह तो हुई प्रकृत उद्देश्य की बात। अब मीर' की रचना का गौण उद्देश्य देखिये। 'मीर' की कविता का उद्देश्य अपनी वेदना का प्रकाश करना ही है। अपार दुःख के उद्वेग से उत्पन्न आह का जो उद्देश्य है, 'मीर' की रचना का भी गौण अथवा व्यावहारिक उद्देश्य वही है।

'मीर' की रचना पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। उनका एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर अनुभूत वेदना की ठंढी आहों से भरा हुआ है। जो कुछ उन्होंने कहा है, सबमें व्यक्तिगत अनुभव की झलक है। 'मीर' की रचना सर्वत्र कठिनाइयों से भरी हुई है। उनकी अवस्था का उचित उपमान नारियल का फल हो सकता है। ऊपर के कड़े छिलके को भेदने पर ही लोग आन्तरिक मृदु भावों की अनुभूति कर सकेंगे। 'मीर' की रचना पर परदा पड़ा हुआ है।

जो लोग मनुष्य को देखकर उसे केवल हाथ-पाँववाला क्रियाशील जीवमात्र समझते हैं, वे मानव सत्ता से एकदम अन-

* 'प्रभा' में बाबू गोवर्द्धनलाल जी।

भिज्ञ हैं, वैसे ही जो लोग 'मीर' को अथवा उनकी रचना को अस्थिपंजरमय रूप में देखकर ही उसके विषय में अपनी राय निर्धारित करते हैं वे धोखा खायँगे।

उनकी रचना पर जो परदा पड़ा हुआ है, उसे हटा दीजिये और फिर देखिये कि वह कितने पानी में हैं। फिर देखिये कि उनकी प्रेममयी सरिता में भावनाओं की कितनी ऊँची लहर उठी है। बीसों बार 'मीर' ने स्वयं ही परदेवाली बात कही है, जिससे लोग उनकी रचना से धोखा न खायँ। वे कहते हैं—

कब और ग़ज़ल कहता मैं इस ज़मीं में लेकिन,
परदे में मुझे अपना अहवाल सुनाना था।

'परदे में मुझे अपना अहवाल सुनाना था'—इसी बात को एक दूसरी जगह खुद ही हैरत करते हुए हज़रत फरमाते हैं—

एक आफ़ते ज़माँ है यह 'मीर' इश्कपेशा,
परदे में सारे मतलब अपने अदा करे है।

यही मीर की रचना का रहस्य है।

अब मीर की भावनाओं को भी देखिये। 'मीर' बेचारे सदैव ठुकराये जाते रहे। उनकी जीवन-निशा रोते-ही-रोते बीती है। किन्तु इस अश्रु-प्रवाह ही से वह किनारे लगे। 'शब आँखों से दरिया-सा बहता रहा, इन्हीं ने किनारे लगाया हमें'—कहकर उन्होंने इस बात की ताईद खुद ही की है।

मीर के विचार में किसी को भी दृढ़ विश्वासपूर्वक आराध्य समझ उसकी आराधना करने से मानव-जीवन की सिद्धि हो सकती है। वह अपने प्राणेश में ही परमात्मा की विराट् विभूतियों को देखते हैं। उनकी दृढ़ उपासना ने प्रियतम को परमात्मा का रूप प्रदान किया है। वे स्वयं ही कहते हैं—

परस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत तुझे,
नज़र में सबों की खुदा कर चले।

कैसे किसी मनुष्य की आराधना से मानवी लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, इस बात को कई जगह मैंने विस्तारपूर्वक पुस्तक में समझाने की चेष्टा की है, अतएव यहाँ थोड़े ही में लिखता हूँ।

दो व्यक्तियों में जब जीव-साम्य के कारण आकर्षण होता है तब प्रेमोदय होता है। प्रेमारम्भ में प्रेमी और प्रियतम दोनों को प्रेम-विकास की कुछ ख़बर नहीं होती; पर भीतर-ही-भीतर एक आग सुलग उठती है। दोनों एक दूसरे से अधिकाधिक सान्निध्य-लाभ करते जाते हैं। फिर एक अवस्था होती है जिसे पूर्वानुराग कहते हैं। धीरे-धीरे, न जाने क्यों, चित्त में विदग्धता आने लगती है। किसी को देखने की इच्छा लगी रहती है, दिल बेचैन-सा रहता है।

मीर की यात्रा भी इसी पथ से आरंभ हुई है। एक शेर में वे स्वयं कहते हैं—

छाती जला करे है सोज़े दरूँ बला से,
एक आग-सी लगी है. क्या जानिये कि क्या है?

यह प्रेम का पूर्वाभास है। इसके लक्षणों की झलक 'मीर' के इस शेर में भी है—

"हम तौरे इश्क़ से तो वाक़िफ़ नहीं हैं लेकिन,
सीने में जैसे, कोई दिल को मला करे है।"

पूर्वावस्था में ऐसा ही होता है। उस समय कोई 'सीने में दिल को मला करता है।' यहाँ तक की अवस्था बालक की हँसी के समान निर्दोष रहती है। यहाँ से इसके दो रास्ते हो जाते हैं—एक स्वार्थजन्य कामवासना से पूर्ण मोह-मार्ग और

दूसरा महाकठिन, वाह्यदुःख से परिपूर्ण शुद्ध, शुभ्र प्रेम-मार्ग। ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य यहाँ तक आकर प्रायः सब कुछ चौपट कर देता है। वह प्रेम का शुद्ध, पर कठिन, रास्ता छोड़ काम-वासनापूर्ण मोह-मार्ग की ही ओर खिंच जाता है। पर इसमें बिचारे प्रेम का कुछ दोष नहीं, यह बहुत-कुछ अपने त्याग पर निर्भर है। संसार में जो लोग प्रेम का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं वे इस विषय को काम-वासनावाले रास्ते से ही आबद्ध समझ अपने विचारों को संकुचित और परिमित कर लेते हैं, यही एक प्रधान भूल आजकल लोगों से होती है।

पूर्वावस्था के पश्चात् धीरे-धीरे प्रेम अधिकाधिक गंभीर होता जाता है। यहाँ तक कि वह पूर्ण प्रणय में परिवर्तित हो जाता है। इसके बाद प्रेमी, प्रियतम के ध्यान में धीरे-धीरे इतनी तल्लीनता प्राप्त करता है कि आँख खोलने पर इधर-उधर चारों ओर मिनटों तक वह उसी की छवि देखता है—यही अवस्था प्रेम-मार्ग की सच्ची सीढ़ी है।

उपर्युक्त अवस्था जिस समय और भी विकसित होती है, उस समय मिनटों की जगह घंटों तक सब वस्तुएँ अपने प्यारे के रूप में दीख पड़ने लगती हैं। किन्तु याद रहे अभी तक उसकी इच्छा विशेष रूप से अपने प्यारे को देखने की होती है, अभी तक उसका नाश नहीं होता। बहुत-कुछ इसी भावना की झलक मीर के इन शेरों में है—

१—यकजा अटक के रहता है दिल हमारा वर्ना,
सब वहीं में हकीकत दिखलाई दे रही है।
२—रहते हो तुम आँखों में फिरते हो तुम्हीं दिल में,
मुद्दत से अगरचे याँ आते हो न जाते हो।

यही संलग्नता—मुक्ति अथवा विश्व-प्रेम का प्रारंभिक रूप है। इसके बाद यह अवस्था होती है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने प्यारे के रूप ही में दिखाई पड़ती है। उस समय मनुष्य उस अनन्तविभूति में जलविन्दुवत् स्वयं विलीन हो जाता है।

इससे ज्यादा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ नहीं कहा जा सकता। इन बातों को ध्यान में रखकर, तब मीर की रचना का आस्वादन करना अधिक उपयोगी एवं फलप्रद होगा।

सौरभ-कुटी, काशी, }
१९८२ वै० } श्रीरामनाथ 'सुमन'

कविरत्न 'मीर'

और

उनका काव्य

Poets are far rarer births than king.

—Johnson

जीवनी

कविता का शौक़

इनका पूरा नाम था 'मीर तक़ी'; 'मीर' इनका तख़ल्लुस (उपनाम) था। इनके पिता का नाम 'मीर अब्दुल्लाह' था जो अकबराबाद के एक प्रसिद्ध और कुलीन वंश से थे। उन दिनों फ़ारसी भाषा के लब्धप्रतिष्ठ लेखक और प्रकांड पंडित सिराजुद्दीन अली ख़ाँ ("आरज़ू") दिल्ली में थे। 'गुल्ज़ार इब्राहीम' के लेखक ने लिखा है कि "मीर साहब का उनका दूर का रिश्ता था और तरबियत की नज़र पाई थी।" साधारणतया ये सिराजुद्दीन ख़ाँ के भाँजे प्रसिद्ध हैं।

'मीर' साहब को लड़कपन से ही कुछ कहने की चाट थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली आये और ख़ाँ 'आरज़ू' के पास इनका और साथ ही इनकी कवि-प्रतिभा का पालनपोषण हुआ। धीरे-धीरे वहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी, परन्तु ख़ाँ साहब और इनके मज़हब में फ़र्क़ था। वे हुनफ़ी थे और ये शिया, दूसरे, मीर साहब में सहनशीलता की भी कमी थी। एक दिन बात-ही बात में कुछ कहा-सुनी हो गई और तब से ये अलग हो गये।

ऐसा सुना गया है कि जब इन्होंने 'मीर' उपनाम रक्खा तब

इनके पिता ने ऐसा करने से मना किया। कहा—"ऐसा न करो, एक दिन सय्यद हो जाओगे", परन्तु उस समय इस बात पर इन्होंने कुछ ध्यान न दिया। कालक्रम से पिता को बात सत्य हुई। ये सय्यद बन हो गये। खुद ही इन्होंने अपने एक शेर में इसकी ओर इशारा किया है—

फिरते हैं 'मीर' ख़ार कोई पूछता नहीं,
इस आशिक़ी में इज्ज़ते सादात भी गई।

उर्दू-साहित्य में अपनी शायरी की बदौलत जो स्थान इनका है, वह और किसी दूसरे को नसीब न हुआ। उर्दू-साहित्य के प्रसिद्ध जानकार, शमसुलउल्मा (पण्डित-भास्कर) स्वर्गीय 'आजाद' एक स्थान पर इनकी कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"कद्रदानी ने इनके कलाम को जवाहर और मोतियों की निगाहों देखा और नाम को फूलों की महक बनाकर उड़ाया। हिन्दुस्तान में यह बात इन्हीं को नसीब हुई है कि मुसाफिर ग़ज़लों को तोहफ़े के तौर पर शहर से शहर में ले जाते थे।"

यह सब कुछ था, किन्तु साथ ही इनकी दृष्टि इतनी ऊँची और अहंकारमयी थी कि दुनिया की कोई बड़ाई, किसी व्यक्ति का महत्त्व, इनके लिये सब अत्यन्त तुच्छ थे। इसलिये ये सांसारिक शान्ति, सुख और ऐश्वर्य से सदैव वंचित रहे।

लखनऊ-प्रवास

दिल्ली के अन्तिम दिन थे। शाह आलम के दरबार और अमीरों की महफिलों में यद्यपि इनकी बड़ी इज्जत थी और सब पर इनके अद्भुत काव्य-चमत्कार ने आतंक जमा रक्खा था, परन्तु केवल ज़बानी जमा-ख़र्च और इज्ज़त दिखलाने से मिस्टर पेट

तो मान नहीं सकते। उधर ख़ज़ाना खाली ही पड़ा था; ईस्ट इंडिया कम्पनी की ज़ालिमाना निगाहें सब कुछ हड़प रही थीं, अतएव ११६० हिजरी (सन् १७७२ ई०) में इन्हें मजबूर होकर दिल्ली छोड़नी पड़ी।

उन दिनों उर्दू- कवियों के लिये सम्पूर्ण भारत में सिर्फ तीन स्थान थे—एक दिल्ली, दूसरा लखनऊ, और तीसरा हैदराबाद (दक्खिन)। इनमें दिल्ली के ऐश्वर्य का संध्याकाल था। हैदराबाद दूर का रास्ता, उन दिनों उधर के सफर का कोई अच्छा ज़रिया भी नहीं था। लखनऊ बच गया था, और यह उसके अभ्युदय का समय भी था। अतएव 'मीर' ने दिल्ली छोड़कर लखनऊ को प्रस्थान किया।

अहंकार

जब 'मीर' लखनऊ चले तब गाड़ी का पूरा किराया भी पास न था। एक सज्जन ने इनके किराये का प्रबन्ध कर दिया। दोनों ने एक ही साथ लखनऊ की यात्रा की। थोड़ी दूर जाने पर उस मनुष्य ने इनसे कुछ बात-चीत आरम्भ की। यह उसकी ओर मुँह फेर बैठे। कुछ देर बाद फिर उसने बात-चीत शुरू की। इस बार मीर साहब झुँझलाकर बोले—"साहब, आपने किराया दिया है, बेशक गाड़ी में बैठिये; मगर बातों से क्या ताल्लुक?" उसने कहा—"हजरत, क्या मुज़ायक़ा है, राह का शग़ल है, बातों में ज़रा जी बहलता है।" मीर साहब बिगड़कर बोले—"ख़ैर, आपका शग़ल है, मेरी ज़बान ख़राब होती है।" मीर साहब की अहंकारमयी प्रवृत्ति, इस घटना में, ख़ूब अच्छी तरह दिखाई देती है।

लखनऊ पहुँचकर, जैसा मुसाफिरों का नियम है, एक सराय में

उतरे। मालूम हुआ कि आज एक जगह मुशायरा है। रह न सके, उसी वक्त ग़ज़ल लिखी और मुशायरा में जाकर सम्मिलित हुए।

मीर साहब पुरानी चाल-ढाल के आदमी थे। इन्हें पुरानी चाल पसन्द थी। खिड़कीदार पगड़ी, खूब चौड़ा जामा, पिस्तोलिये का एक पूरा थान कमर से बँधा और उसमें एक पटरीदार रूमाल तह किया लगा हुआ, नागफनी की अनीदार जूती – जिसकी नोक दस अंगुल ऊपर तक उठी हुई, कमर में एक ओर सीधी तलवार, दूसरी तरफ़ कटार—इसी वेष से मुशायरे में दाखिल हुए; पर वह था लखनऊ। नये अन्दाज़, नई चालें, नई सजा-चट। तरह-तरह के लोग जमा थे, कुछ इन्हें देखकर हँसने लगे।

मीर साहब ज़माने के हाथों सताये हुए तो थे ही, यह हालत देखी तो भौंचक-से रह गये। एक तरफ़ कोने में जा बैठे। जब शमा (मोमबत्ती—दीपक) सामने आई तब सबकी नज़र इनपर पड़ी। कुछ लोगों ने आवाजें कसनी शुरू कीं। दो-एक ने व्यंग्य से पूछा—'हुजूर का वतन कहाँ है ?' मीर साहब उठे और ग़ज़ल पढ़ने के पहले तुरंत दो-तीन शेर बनाकर बड़े दर्दनाक (मर्मस्पर्शी लहजे में यों पढ़ना शुरू किया —

'क्या बूदोबाश पूछे हो पूरब के साकिनो
हमको ग़रीब जानके हँस-हँस पुकार के।
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तखाब,
रहते थे मुन्तख़ब ही जहाँ रोज़गार के।
उसको फ़लक ने लूटके वीरान कर दिया,
हम रहनेवाले हैं उसी उजड़े दयार के।'

नाम लोगों ने पहले ही से सुन रखा था, सब हाल मालूम हुआ तो बड़े लज्जित हुए। सबने क्षमाप्रार्थना की।

प्रातःकाल तक सारे शहर में प्रसिद्ध हो गया कि मीरसाहब तशरीफ़ लाये हैं। धीरे-धीरे ये सब बातें नवाब आसिफुद्दौला के कानों तक पहुँचीं। वे दानी तो परले सिरे के थे ही, तुरन्त बुलाकर दो सौ रुपये महीने का वज़ीफा मुकर्रर कर दिया।

नाज़ुकमिज़ाजी

एक दिन नवाब ने इनसे एक ग़ज़ल की फ़रमाइश की। दो-तीन दिन बाद जो फिर गये तो पूछा—'मीरसाहब! मेरी ग़ज़ल लाये?' मीरसाहब ने उसी अभिमानभरी वृत्ति से कहा—"जनाब, मज़मून ग़ुलाम की जेब में तो भरे ही नहीं हैं कि कल आपने फ़रमाइश की और आज ग़ज़ल हाजिर कर दे।" दूसरा कोई होता तो न जाने क्या करता; पर नवाब सज्जनता और सहनशीलता के अवतार थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—"मीर साहब! जब तबीयत हाज़िर होगी, कह दीजियेगा।"

इनकी नाज़ुक-मिज़ाजी के प्रमाण एक-दो नहीं, सैकड़ों हैं। एक दिन की बात है कि नवाब ने इन्हें बुला भेजा। पहुँचे तो देखा कि वे हौज़ के किनारे खड़े हैं, हाथ में छड़ी है। पानी में लाल, हरी, नाना प्रकार की मछलियाँ तैर रही हैं और नवाब तमाशा देख रहे हैं। 'मीर' को देखकर बहुत खुश हुए और कहा—'मीर साहब, कुछ फ़रमाइये।' इन्होंने ग़ज़ल सुनानी शुरू की। नवाब सुनते जाते थे और छड़ी से मछलियों के साथ भी खेलते जाते थे। मीर साहब झल्लाकर हर शेर पर ठहर जाते थे। नवाब कहे जाते थे—'हाँ, पढ़िये'। निदान चार शेर पढ़कर मीर साहब ठहर गये और झल्लाकर बोले, "पढ़ूँ क्या? आप तो मछलियों से खेलते हैं, इधर मुतवज्जुह (ध्यानाकर्षित) हों तो

पढ़ूँ।" नवाब ने कहा—"जो शेर होगा, आप मुतवज्जुह कर लेगा।" यद्यपि बात ठीक थी, किन्तु मीरसाहब को बुरी लगी। ग़ज़ल जेब में डालकर घर चले आये और फिर जाना छोड़ दिया।

इस घटना को कुछ दिन बीत गये। एक दिन की बात है कि मीर साहब बाज़ार में चले जाते थे; नवाब की सवारी सामने आ गई। नवाब देखते ही प्रेम से बोले—"मीर साहब, आपने हमें बिलकुल छोड़ दिया, कभी तशरीफ़ नहीं लाते!" इन्होंने कहा—"यों बाज़ार में बातें करना तहज़ीब के खिलाफ़ है।" आखिर नवाब के साथ न गये और तबसे यों ही घर बैठे रहे। किसी प्रकार आधा पेट खाकर दिन बिताते थे। ये सब बातें इनके आत्मगौरव को बड़े उग्र रूप में प्रगट करती हैं।

१२२५ हिजरी अर्थात् १८०७ ईसवी में सौ वर्ष जीवित रहकर ये स्वर्ग सिधारे। इनकी मृत्यु पर उर्दू के परम प्रसिद्ध कवि नासिख़ ने तारीख़ कही।*

---

* तारीख़ कहना—उर्दू और फ़ारसी साहित्य में यह रिवाज-सा हो गया है कि जब कोई प्रसिद्ध कवि अथवा महान् पुरुष परलोकवासी होता है तब उसका कोई विद्वान् भक्त कुछ ऐसे काव्य-मय वाक्यों की रचना करता है जिसमें एक ओर तो उसके गुणों का सूत्रवत् वर्णन रहता है और दूसरी ओर उन अक्षरों के मूल्य (ध्यान रहे कि उनके यहाँ प्रत्येक अक्षर का कुछ सांख्यिक मूल्य नियत है) का योग करने पर वही तिथि निकलती है, जब मृत्युघटना घटी रहती है। नासिख़ ने मीर की जो तारीख़ कही वह यों है—"वावेला मर्दे शहे शायराँ"

मीर का काव्य

इनकी रचनाओं का सर्वोत्तम संस्करण, जो मैंने देखा है, नवलकिशोर प्रेस कानपुर) से प्रकाशित हुआ है। यद्यपि उसमें अनेक स्थानों पर प्रेस-सम्बन्धी भूलें मौजूद हैं, तो भी वह बहुत कुछ प्रामाणिक है।

इनकी ग़ज़लों के छः दीवान हैं। फारसी के कुछ चुने हुए फुटकर शेरों पर उदू सिस्रे लगाकर इन्होंने उन्हें 'मुसल्लस' (त्रिपदी और 'रुबाई' चतुष्पदी) का रूप भी दिया है। यह इनका नूतन आविष्कार है, जिसके ऊपर अभी तक कोई नहीं चला। दो चार कसीदे भी इनके हैं। एकाध 'मुख़म्मस' (पंचपदी) भी हैं जिनमें कुछ व्यक्तियों के ऊपर व्यंग्य या आक्षेप हैं। फारसी की भी कुछ कविताएँ मिलती हैं।

१—ग़ज़लें

इनकी ग़ज़लें अपनी सफ़ाई और बाँकपन के लिये उर्दू-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। विचारों का अनोखा तारतम्य और कहने का ढंग—इन दो बातों ने इनकी ग़ज़लों को 'सौदा' के भी आगे बढ़ा दिया है। इनका ढंग सम्पूर्ण उर्दू-साहित्य में निराला है। उसकी नकल बहुतों ने की, पर कोई उसपर पूरी तरह चल न सका। 'ज़ौक' ने एक जगह लिखा है—

न हुआ पर न हुआ 'मीर' का अन्दाज़ नसीब
'ज़ौक़' यारों ने बहुत ज़ोर ग़ज़ल में मारा।

'ग़ालिब' भी कहते हैं—

अपना भी यह अक़ीदा है बक़ौले नासिख़,
आप बेबहरा है जो मोतक़िदे मीर नहीं।

अर्थात् "नासिख़ की तरह मेरा भी विचार है कि जो मीर की प्रतिभा का क़ायल नहीं, वह अज्ञान है।"

वास्तव में बात भी एक हद तक ठीक है। जो रचना कानों में पहुँचते ही दिल में घर कर ले, वही वास्तव में सच्ची कविता है। घंटों माथा-पच्ची करानेवाली रचना अर्थ और भाव-गौरव से भले ही अलंकृत हो, पर वह विशेष आनन्द और सहृदयता का आविर्भाव नहीं करती। हिन्दी-साहित्य के लिये 'केशव' और 'बिहारी' इसके अच्छे उदाहरण हैं। 'बिहारी' की कविता नश्तर है, जो विदग्ध-हृदयों को स्पर्श करते ही आनन्दमयी वेदना से कलेजा हिला देती है और 'केशव' की नुकीली संगीन 'मंजिले मकसूद' तक पहुँचते-पहुँचते अपना प्रभाव खो देती है।

'मीर' का साफ़ और सुलझा हुआ कलाम बड़ी शीघ्रता से हृदय पर अपना प्रभाव दिखाता है और मस्तिष्क दुखाने की जगह उसे एक अनोखे मधुर स्वाद से भर देता है, इसी लिये विद्वानों में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा है और साधारण लोगों में खूब प्रचार है। इनका यह ढंग, वास्तव में, 'मीर सोज़' का है, किन्तु 'सोज़' महाशय के यहाँ केवल बातें-ही-बातें हैं, बेजान ढाँचा है और इन्होंने उस ढाँचे में जान डाल दी है—बात में बात पैदा कर दी है।

२—क़सीदे

उच्चकोटि का निर्वाचन, शब्दों की शानदार योजना, बन्दिश की चुस्ती, हृदय की चंचलता और हाज़िरजवाबी, ये सब बातें कसीदे के लिये आवश्यक हैं। इन बातों की 'मीर' साहब में कमी थी। ये अपनी गंभीरता, सादगी और बाँकपन के लिये प्रसिद्ध थे, इसलिये इनके क़सीदे बहुत कम हैं और जो हैं, वे भी उच्चकोटि के नहीं हैं। इनकी ग़ज़लों और क़सीदों को देखने से साफ़-साफ़ प्रकट होता है कि कसीदे और ग़ज़ल के दो क्षेत्रों में दिन-रात का अन्तर है। सौदा और मीर की रचनाओं का अन्तर इसी मंज़िल में आकर मालूम होता है।

मुसाहिबों और अमीरों की प्रशंसा में कसीदे न कहने का यह भी एक कारण था कि इनकी सादगी, स्वत्वाभिमान और सन्तोषमयी प्रवृत्ति इन्हें किसी मनुष्य की चापलूसी और झूठी प्रशंसा करने की आज्ञा न देती थी। यह बात इनकी नीचे की रचना से साफ़-साफ़ प्रकट होती है—

मुझको दिमाग़ वस्फ़[1] गुलो[2] यासमन[3] नहीं,
मैं जूँ नसीमें[4] बाद फरोशे[5] चमन नहीं।
कल जाके हमने 'मीर' के दर पर सुना जवाब,
मुद्दत हुई कि याँ वह ग़रीबुल[6] वतन नहीं।

१—वस्फ = गुण। २—गुल = फूल, प्रायः गुलाब के अर्थ में आता है। ३—यासमन = एक प्रकार का सुन्दर फूल है। ४—नसीम = मन्द, सुगंध, शीतल प्रभाती वायु। ५—फ़रोश = बेचनेवाला। ६—ग़रीबुलवतन = मातृभूमि-त्यक्त। वतन से हीन।

जो कुछ हो, पर इतना निश्चित है कि किसी की प्रशंसा अथवा निन्दा में इन्होंने जो भी लिखा है, उसमें ज़ोर नहीं है, रस नहीं है, मज़ा नहीं है। इन चीज़ों के मज़े लूटने हों तो 'सौदा' के चमन की सैर कीजिये। वहाँ आपको निराली सजावट के दर्शन होंगे, अद्भुत सुगंधि की प्राप्ति होगी और नयनानंददायिनी सुषमा देखने को मिलेगी।

३—मसनवी इत्यादि

१—वासोख़्त—दो हैं, किन्तु अद्वितीय हैं। सैकड़ों शायरों ने 'वासोख़्त' कहे, किन्तु आज तक इस मैदान में 'मीर' की जोड़ का कोई दूसरा नहीं आया। कमाल कर दिया है।

२—मसनवियाँ—इनकी मसनवियाँ विभिन्न बहरों में हैं। कुछ ऐसी हैं जो अच्छी हुई हैं। इनमें 'शोलएइश्क़' और 'दरियाएइश्क' शीर्षक की मसनवियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं और साधारणतया अच्छी भी हैं, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि ग़ज़लों के अतिरिक्त और मैदानों में ये पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सके हैं। मसनवियों में स्वर्गीय मीरहसन साहब इन्हें बहुत पीछे छोड़ गये हैं।

'जोशे इश्क' नाम की इनकी एक मसनवी है जो विचारों की सूक्ष्मता और बाँकपन से अलंकृत है; किन्तु दुःख का विषय है कि वह उतनी प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकी।

'ऐजाज़े इश्क' 'ख़ाबो ख़याल' छोटी हैं और कुछ ज़्यादा अच्छी भी नहीं हैं; 'मामिलाते इश्क' बड़ी अवश्य है; किन्तु उच्चकोटि की वह भी नहीं है।

'मसनवी शिकारनामा' में नवाब आसिफ़ुद्दौला के शिकार

और सैर का विस्तृत वर्णन है। यद्यपि भाषा बहुत अच्छी नहीं है, किन्तु वर्णन वैचित्र्य और लोकोक्ति-चमत्कार से पूर्ण है। बीच में कहीं-कहीं जो ग़ज़लें लगा दी गई हैं, वे अजीब मज़ा देती हैं।

एक 'साक़ीनामा' लिखा है। है तो छोटा, किन्तु सीधा और साफ है। पढ़ने में मज़ा भी .खूब आता है।

इन सबके अतिरिक्त और भी छोटी-छोटी बहुत सी मसनवियाँ लिखी हैं। इनकी सारी मसनवियाँ कानपुर से प्रकाशित इनके कुलियात के अन्त में दी हुई हैं। एक मसनवी अपने मुर्ग़े के मरसिये (मृत्यु-शोक) में लिखी है। लिखते हैं—"मेरा प्यारा मुर्ग़ा था। बड़ा अच्छा था। एक दिन इसपर बिल्ली ने आक्रमण किया। मुर्ग़े ने बड़ी वीरता से सामना किया और अन्त में मारा गया।" मसनवी बिलकुल मामूली है, पर पढ़ने में मनोरंजन ज़रूर होता है। इसमें का एक शेर है:—

झुका बसूए क़दम सर ख़रांसे बेजॉ का,
जमीं पे ताज गिरा हुदहुदे सुलेमाँ का।

एक मसनवी अपनी बिल्ली पर भी लिखी है। उसमें कहते हैं कि "मेरे एक बिल्ली थी। बड़ी वफादार और सन्तोषी थी। उसके बच्चे जीते न थे। एक बार पॉच बच्चे हुए और पॉचो जिये। तीन बच्चे लोग मॉग ले गये। दो रहे, दोनों मादा थे। एक का नाम 'मोनी' रक्खा, दूसरे का 'मानी'। 'मोनी' मेरे एक दोस्त को पसन्द आई, वे ले गये। 'मानी' के स्वभाव में दीनता और सादगी बहुत थी, उसने फकीर का साथ न छोड़ा।" इतनी ही बात को .खूब बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है।

कुत्ते और बिल्ली के सम्बन्ध में और भी एक मसनवी लिखी है। एक बार किसी अमीर के साथ मेरठ तक यात्रा करने गये

थे। बरसात के दिन थे, तकलीफ हुई। इस यात्रा की तकलीफों पर भी आपने एक मसनवी लिखी है।

अपनी बकरी के सम्बन्ध में भी एक मसनवी लिखी है। लिखते हैं—"एक बकरी पाली, उसके चार थन थे। बच्चा हुआ तो दूध एक ही में उतरा। वह भी इतना था कि बच्चे को पूरा न पड़ता था। बाज़ार का दूध पिला-पिलाकर पाला।" इसके बाद इन्होंने बच्चे की अनधिकार-चर्चा की है।

एक मसनवी नवाब आसिफुद्दौला के सम्बन्ध में भी लिखी है। एक दूसरी झूठ को सम्बोधन करके कहा है।

मसनवी अजगरनामा—विषय नाम ही से प्रकट है।

शिकायत बरसात—इसमें बरसात की निन्दा की है। घर का गिरना, पानी बरसने के समय घर से निकलने की कठिनाइयाँ, इत्यादि मामूली बातें इसमें हैं। मालूम नहीं, इनकी तबीयत किस साँचे की थी? अगर चाहते तो इस ज़मीन पर खूब लिखा जा सकता था, किन्तु हृदय में जोश नहीं था, उत्सुकता और उत्कंठा नहीं थी, वरन् गंभीरता और वेदना थी। 'सौदा' होते तो ग़ज़ब कर देते।

'मसनवी तबीहुलख्याल'—इसमें काव्य-कर्म की महत्ता उसका क्या आदर्श है, इत्यादि बातें बड़े विशद रूप में लिखी हैं। तुकबन्दों को फटकारते हुए लिखा है कि 'पहले प्रतिष्ठित, कुलीन और विद्वान् लोग काव्य की ओर प्रवृत्त होते थे, अब उसमें बहुत से नीच सम्मिलित हो गये हैं।' एक बजाज के लड़के पर आप बेतरह बिगड़े हैं।

और भी दो-एक छोटी-छोटी मसनवियाँ हैं, पर उनमें कुछ लिखने लायक बात नहीं।

४—नकातुश्शुअरा

यह पुस्तक उर्दू काव्य-प्रेमियों के देखने योग्य है। इसमें पुराने उर्दू-कवियों की बहुतेरी बातों का ज़िक्र है। इसके पढ़ने से उस समय की बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। इस पुस्तक में भी इनका वही अभिमान से भरा तीखा रंग है। प्रस्तावना में लिखते हैं—"यह उर्दू का पहला * तज़किरा (जीवनी-संग्रह) है। इसमें एक हज़ार शुअरा (कवियों) का हाल लिखूँगा, मगर उनको न लूँगा जिनके कलाम से दिमाग़ परीशान हो।" परन्तु उन 'हज़ार' में भी कोई बेचारा व्यंग्य से नहीं बचा। इन्होंने सब में दोष निकाले हैं। उर्दू-साहित्य से परिचय रखनेवाले जानते हैं कि 'वली' उर्दू का सबसे पहला और प्रसिद्ध कवि है। 'वली' का उर्दू साहित्य में वही दर्जा है जो हमारे यहाँ (हिन्दी-साहित्य में) 'चन्द' कवि का है। वह बेचारा भी इनकी नीति का शिकार हुआ है। इन्होंने उसे शैतान बना दिया है—"वली, शायरीस्त अजशैतान मशहूर तर।"

मीरखाँ 'कमतरीन' † इस जमाने में एक पुराने शायर थे;

---

* यह भी 'मीर साहब' की ज़बरदस्ती है, अन्यथा इसके पूर्व कई तज़किरे लिखे जा चुके थे।

† मीर खाँ नाम था, 'कमतरीन' उपनाम (तख़ल्लुस)। 'तरीन' एक अफग़ानी फ़िरक़े का नाम है। ये भी उसी से थे। इसी चालाकी से अपना यह उपनाम रक्खा। बहुत वृद्ध थे; 'शाह आबरू' और 'नाजी' के देखनेवालों में से थे, किन्तु इस दौर में अभी तक मौजूद थे। पुराने आदमी थे, कुछ विशेष प्रतिभा भी न थी। समय पर जो बात सूझ जाती

उन्हें 'मीर साहब' के इस 'रिमार्क' पर बड़ा क्रोध आया। एक पद्य में 'मीर' साहब को खूब फटकारा। अन्त में लिखते हैं --

"वर्ना पर जो सखुन लाये उसे शैतान कहते है"।

उसे अवसर का विचार किये बिना ही कह डालते थे। कोई इनकी ज़बान से बचा नहीं। वेश-भूषा भी इनकी दुनिया से निराली होती थी। एक बड़ी घेरेदार पगड़ी सर पर बाँधते थे, लम्बा-सा दुपट्टा बल देकर कमर पर लपेटते थे, एक सोंटा हाथ में रखते थे। उन दिनों प्रत्येक शुक्रवार को सैदुलाखाँ की चौक [दिल्ली में] पर मेला लगता था। अपनी ग़ज़लों को परचों पर लिखकर वहीं जा खड़े होते। लड़के और शौक़ीन सहृदय रसिक दाम देते और एक-एक दो-दो परचे खुशी से ले जाते थे।

'मीर' साहब के काव्य की आलोचना

मीर साहब की भाषा परिमार्जित और रचना साफ है। वर्णन इतना स्वाभाविक है, जैसे बातें करते हैं। दिल के भावों को—जो प्रायः सार्वदेशिक हैं—मुहाविरे का रंग देकर बातों-बातों में अदा कर देते हैं। भाषा में ग़ज़ब का ज़ोर है। इनकी कविता का सबसे बड़ा गुण सादगी और स्वाभाविकता है। पढ़ते-पढ़ते ऐसा मालूम होता है मानों आँखों के सामने कोई प्रभावशाली नाटक खेला जा रहा है। जहाँ वियोग का वर्णन करने लगेंगे, रुलाकर छोड़ेंगे। मजाल है कि आशिक की बेचैनी और आहें, सरस और समझदार हृदयों को न रुला दें। सीधी-सादी बात है, किन्तु ढंग ऐसा है कि दिल में सीधे जाकर चुभता है। इनकी रचना ने इन्हें उर्दू-साहित्य का सादी' बना दिया है।

इनकी सम्पूर्ण रचना पर इनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। कह सकते हैं कि वह इनके व्यक्तिगत अभिनय का—जो संसार के रंगमंच पर इन्हें खेलना पड़ा—एक प्रतिबिम्ब है, जो अभी तक दिल वाली आँखों में घर किये हुए है, और तब तक यों ही किये रहेगा, जब तक संसार के वायुमंडल में मनुष्यता, सहृदयता और करुणा—शीतलता, मन्दगति, और सुगन्ध का रूप धारण करके सुख की सद्वृद्धि करती रहेंगी।

कवियों की रंगीन उक्तियाँ, विचारों की सूझ, अतिशयोक्ति के मज़े बहुतों को मालूम हैं; क्योंकि जगत् के साहित्य में इनका अभाव नहीं है। चार दिन तक ठहरनेवाली प्रेम की उत्कर्ष-गति आये दिन हमारी निगाहों से गुज़रा करती है; किन्तु दुर्भाग्य समझिये या सौभाग्य, मीर साहब की ज़िन्दगी में प्रसन्नता, चंचलता, सांसारिक भोग-विलास और अस्थायी मिलन के आनन्द की कहीं भी कोई रेखा नहीं है। जो मुसीबत और ग़म साथ लाये थे, उसी का दुखड़ा सुनाते हुए चले गये, जो आज तक आँखवाले दिलों में असर और विदग्ध सीनों में दर्द पैदा करते हैं; क्योंकि ऐसे विषय और शायरों के लिये काल्पनिक थे और इन पर सब कुछ बीत चुकी थी। इनका आशिक़ाना कलाम (प्रेममय काव्य) वेदना, निराशा और असफलता की आँखों से टपके हुए आँसुओं का एक हसरत से भरा हुआ मरहम है, जो वियोग की डिबिया में बन्द पड़ा है। दिल के नश्तर पर यह मरहम बहुत कुछ कारगर होता है।

इनकी रचना के बारे में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। इनका कलाम साफ़ कह रहा है कि जिस दिल से निकलकर आया हूँ, वह दुःख व दर्द का पुतला ही नहीं, निराशा, हसरत और वेदना का जनाज़ा था। सदैव एक ही रंग में रँगे रहते थे। जो दिल पर बीतती थी उसे ही बिना बनावट के सीधे-सादे शब्दों में कह देते, जो सुननेवालों के दिलों पर जादू का असर करते थे।

इनकी गज़लें अनेक बहरों (छन्दों) में हैं। सभी में मधुरता है, वेदना है, संसार की सच्ची अवस्था का निराशा और हसरत से भरा हुआ चित्र है; परन्तु छोटी बहरों की ग़ज़लों में और भी

कुछ है। वे अमृत-कुंड से तर होकर निकली हैं जो बहुत दिनों तक जलते हृदयो पर अपनी शीतल बूँदों की वर्षा करती रहेंगी। इन ग़ज़लों के एक-एक शब्द 'भैरोनाथ के जन्तर' हैं।

फर्माइशी ग़ज़लें उतनी अच्छी नहीं हैं, उनमें वह प्रभाव नही दिखाई देता। इसका कारण साफ है। जो रचना कवि के हृदय से न निकले, वह दूसरो के दिलों में क्या गुदगुदी पैदा करेगी ?

फारसी मुहाविरों पर उर्दू बन्द लगाकर इन्होंने नया आविष्कार किया है। फारसी मुहाविरो के अनुवाद भी इनकी रचना में देखे जाते हैं। कुछ उदाहरण देना, अप्रासंगिक न होगा।

'खुशमनमे आयद', यह फारसी का एक मुहाविरा है। इसका अर्थ होता है, 'मुझे भला नहीं लगता'। मीर साहब इसी मुहाविरे को उर्दू के साँचे में यो ढालते हैं:—

'नाकामी[1] सदहसरत[2], खुश लगती नहीं वरना,
अब जी से गुज़र जाना कुछ काम नहीं रखता।"

'नमूद करदन', फारसी का एक फिकरा है। इसका अर्थ है 'प्रकट करना'। मीर लिखते हैं:—

"नमूद[3] करके वहीं बहरे[4]ग़म में बैठ गया,
कहे तो 'मीर' भी एक बुलबुला था पानी का।"

इसी तरह के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनकी ऐसी रचना अच्छी है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध और प्रचलित

१—नाकामी=असफलता। २—सदहसरत=बहुत अफ़सोस है। ३—नमूद=प्रकट। ४—बहरेग़म=दुःख सागर।

भी हैं, किन्तु साधारणतया लोगों ने इन्हें भली भाँति नहीं अपनाया।

कहीं-कहीं कुछ ऐसे फ़ारसी मुहाविरों का अधार लेकर इन्होंने शेर कहे हैं जिन्हें पीछे लोगों ने छोड़ दिया। 'नज़आमदन' अर्थात् शर्मिन्दा होना, एक मुहाविरा था। इसकी छाया-मात्र लेकर खूब कहा है—

खुलने में तेरे मुँह के, कली फाड़े गरेबाँ[1],
आगे तेरे रुख़सार[2] के गुलबर्ग[3] तर आवे।"

कहीं-कहीं आपको जोश भी आ गया है। ऐसी जगह आपने खूब दून की हाँकी है, परन्तु उनकी ऐसी रचना भी मज़े से ख़ाली नहीं। एक शेर देखिये:—

"हरचन्द नातवाँ[4] हूँ पर आ गया जो दिल में,
देंगे मिला ज़मीं से तेरा फ़लक[5] क़लाबा।"

अनेक स्थानों पर इन्होंने शब्दों के विकृत रूप को भी स्थान दिया है। उदाहरण लीजिये:—

"मैं बेक़रार ख़ाक में कब तक मिला करूँ,
कुछ मिलने या न मिलने का तो भी क़रार कर।"

इसमें क़रार शब्द इकरार (प्रतिज्ञा, वचन, शर्त) का अपभ्रंश है।

इनका एक शेर है:—

"अब्र[6] उठा था काबे से और झूम पड़ा मैख़ाने[7] पर,
बादाकशों का झुरमुट हँगा शीशे वो पैमाने[8] पर।"

१–गरेबाँ = गला, कुरते का वह भाग जो गरदन के पास होता है। २–रुख़सार = कपोल। ३–गुलबर्ग = गुलाब के फूल की पंखड़ियाँ। ४–नातवाँ = कमजोर, दीन। ५–फ़लक = आसमान। ६–अब्र = बादल। ७–मैख़ाना = मधुशाला। ८–पैमाना = प्याला।

'अब्र काबा' पर एक व्यक्ति ने आक्षेप किया। उसका कहना था कि "उर्दू ज़बान की शाइरी में किसी ने ऐसा नहीं कहा है। 'काबा की जगह 'क़िबला' का प्रयोग सब लोगों ने किया है। 'काबा' और 'किबला' प्रायः समानार्थवाची शब्द हैं।" मीर साहब ने कहा—"हाँ, 'किबला' का लफ्ज़ (शब्द) भी आ सकता है, मगर 'काबे' से ज़रा मिसरे की तरकीब गरम हो जाती है।" मीर साहब का कथन वास्तव में सच है जिन्हें ज़बान का मज़ा मालूम है, वे लोग इसका अनुमोदन करेंगे।

'मीर साहब' की रचना यदि आज-कल के उर्दू-व्याकरण की कसौटी पर कसी जाय तो, उसमें दो-एक भूलें भी दीख पड़ती हैं; किन्तु वे उपेक्षणीय हैं। उस ज़माने के और भी कितने ही कवियों ने वैसे प्रयोग किये हैं। कौन जाने उस समय ये निषिद्ध न रहे हों।

उर्दू-भाषा के अनेक शब्द जो स्त्रीलिंग हैं, 'मीर' ने पुँल्लिंग मानकर व्यवहृत किये हैं। उदाहरण लीजिये—

१—मिलाये ख़ाक में किस तरह के आलम याँ,
निकल के शहर से टुक सैर कर मज़ारों का।

२—कल जिसकी जाँकनी पैं सारा जहान टूटा,
आज उस मरीज़ेग़म का हिचकी में जान टूटा।

प्रथम शेर का 'सैर' शब्द आजकल स्त्रीलिंग माना जाता है, अतएव आधुनिक उर्दू-व्याकरण की दृष्टि से 'निकल के शहर से टुक सैर कर मजारों का', की जगह 'निकल के शहर से टुक सैर कर मज़ारों की' होना चाहिये। इसी तरह दूसरे शेर में भी 'जान' शब्द, जो आजकल स्त्रीलिंग है, पुल्लिंग-रूप में व्यवहृत हुआ।

निश्चित रूप से यह कहना बड़ा कठिन है कि उस समय के व्याकरणानुसार इन शब्दों का क्या रूप था, पर जो हो, एक बात निश्चित है कि ऐसा प्रयोग (जैसा 'मीर' ने किया है) उस समय प्रचलित था, अतएव उसे दूषित मानना, मेरी समझ से, ठीक न होगा। उर्दू-साहित्य के धुरन्धर से धुरन्धर कवियों ने ऐसे प्रयोग किये हैं। 'मीर' के समकालिक और उर्दू-साहित्य के परम प्रसिद्ध 'सौदा' लिखते हैं :—

१—कहा तबीब[1] ने अहवाल[2] देखकर मेरा
कि सख्त जान है सौदा का आह क्या कीजे।
२—हर संग में शरार[3] है तेरे जहूर का,
मूसा नहीं जो सैर करूँ कोहे तूर का।
३—करें शुमार बहम दिल के यार दाग़ों का,
तो आ कि सैर करें आज दिल के बाग़ों का।

पहले शेर में 'जान' को और दूसरे तथा तीसरे में 'सैर' का, इन्होंने भी, 'मीर' की तरह, पुल्लिंगवत् प्रयोग किया है।

अनेक स्थानों पर मीर ने पुँल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग मान-कर प्रयुक्त किया है। उदाहरण लीजिये—

"क्या ज़ुल्म है उस ख़ूनिये आलम[4] की गली में,
जब हम गये दो चार नई देखीं मजारें[5]।"

इस शेर का अन्तिम 'मज़ार' पुँल्लिंग है, अतएव बहुवचन में उसका रूप 'मजारे' न होना चाहिये। 'मजारें' लिखना यह

१=तबीब = चिकित्सक। २—अहवाल = अवस्था। ३—शरार =चिनगारी, अग्नि। ४—ख़ूनिये आलम=(संसार), लोगों का ख़ूनी। ५—मज़ारें=क़ब्रें।

सिद्ध करता है कि यहाँ कवि ने इस शब्द का स्त्रीलिंगवत् प्रयोग किया है।

'मसनवी शोलएइश्क' में एक स्थान पर 'मीर साहब' लिखते हैं—

"ख़ल्क यक जा हुई किनारे पर,
हश्र बरपा हुई किनारे पर।"

'हश्र' शब्द को प्रायः सभी उर्दू और फारसी कवियों ने पुंल्लिंग माना है. परन्तु इस शेर में वह स्त्रीलिंग है.

यह तो हुई 'मीर' के काव्य की संक्षिप्त आलोचना।

मीर साहब की रचना को सभी लोग उर्दू-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान देते हैं, विशेषतः उनकी ग़ज़लों के आगे सबका रंग फीका है। उनकी रचना संसार की बेवफाई, हसरत, वेदना और निराशा का ऐसा फोटो है जिसे देखते ही कलेजे से करुणा और पीड़ा से भरी हुई आह निकल जाती है।

जो लोग 'मीर' को उर्दू का बहुत बड़ा कवि मानने के लिये तैयार नहीं हैं, उन्हें भी इस विषय में कुछ मत-भेद नहीं हो सकता कि 'मीर' के काव्य की, दूसरे कवियों की रचना से तुलना नहीं की जा सकती। मीर' कवि नहीं, कुछ और हैं। वे सीधी-सच्ची बात को भोले-भाले शब्दों में कहना जानते हैं। वहाँ बनावट नहीं, रूप नहीं, शृंगार नहीं; स्वाभाविकता है, सादगी है और लुटा हुआ, कुचला हुआ यौवन है, जो संसार की ओर हसरत भरी दृष्टि से देख रहा है। उनकी रचना, साफ सुथरी क्यारियों से सज्जित, काट-छाँट करके बनाये गये फूलदार पैदों से परिवेष्टित चमन नहीं अनियंत्रित जंगल है, उत्ताप-दग्ध रेगिस्तान है। उस वाटिका में शीतल-मन्द समीरण का संचार नहीं, धूलों के बगोले

उठते हैं; वहाँ बुलबुल नहीं बोलती, क़ब्र से वेदना-भरी एक चीख़ सुनाई देती है। समझनेवाले उसकी सैर करके आँसू बहाते हैं और परिमित दृष्टि वाले भोल-विलास के आदी उसकी स्वाभाविकता से उत्पन्न मज़ेदार तकलीफ़ों को गालियाँ देकर अपना हौसला निकालते हैं।*

---

* बक़ाउल्ला ख़ाँ 'बक़ा' उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। 'सौदा' और 'मीर' के समकालिक थे। 'सौदा' तो उर्दू साहित्य में दूसरों की हँसी उड़ाने के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने एक बार इनकी भी ख़ूब निन्दा की थी। इसी पर चिढ़कर 'बक़ा' ने 'सौदा' पर भी दो-चार शेर कह डाले। 'सौदा' और 'मीर' दोनों ही उस समय के प्रसिद्ध कवि थे, अतएव सौदा की ख़बर लेते समय बेचारे 'मीर' भी उसमें पिस गये। पर उसमें कुछ है नहीं, कोरा आक्षेप ही है। 'बक़ा' साहब फ़रमाते हैं :—

मीरो मिरज़ा की शेरख़्वानी ने, बस कि आलम में धूम डाली थी।
खोल दीवान दोनों साहब के, ऐ 'बक़ा' हमने जो ज़ियारत की।
कुछ न पाया सिवाय इसके सख़ुन एक 'तू तू' कहे है यक 'हीही'।

यह नोट इसलिये दे दिया गया कि लोग संसार की विभिन्नता का भी कुछ अन्दाज़ लगायें।

मीर और सौदा

सौदा और मीर दोनों समकालिक कवि थे। सम्पूर्ण उर्दू-साहित्य में दोनों अपना सानी (उपमान) नहीं रखते। दोनों अपने ढंग के निराले हैं, अतएव मेरी समझ से थोड़ा स्थान इनकी तुलनात्मक आलोचना के लिये देना ठीक होगा।

वास्तव में दो प्रसिद्ध कवियों की तुलना करना विशेष औचित्य नहीं रखता; क्योंकि संसार की भावनाएँ इतनी विभिन्नता रखती हैं कि इस बात का सम्यक् निर्णय कर डालना कि दो बराबर श्रेणी के कवियों में कौन अधिक आदरणीय है—बड़ा दुरूह है। यह बात 'मीर' और 'सौदा' के सामने आकर तो और भी जटिल हो जाती है; क्योंकि दोनों के साँचे ही अलग-अलग हैं। एक यदि रोता है तो दूसरा हँसता है। एक के हृदय से यदि करकराती हुई आह निकती है तो दूसरे के मुँह से आनन्द के फव्वारे छूटते हैं। दोनों सृष्टि के आवश्यक अंग हैं; पर दोनों में विरोध है। मनुष्य की सत्ता का सम्यक् रूप से नियंत्रण करने के लिये हँसना, आनन्द मनाना, और गाना जितना आवश्यक है, रोना, मातम करना और आहें भरना भी उससे कम ज़रूरी नहीं; फिर दोनों की तुलना ज़रा मुश्किल बात है।

ग़ज़लों के सम्बन्ध में अधिकांश लोगों की राय है कि मीर; सौदा से बहुत आगे बढ़ गये हैं। हाँ, क़सीदे ❀ लिखने में सौदा

❀ कसीदा—फ़ारसी (अथवा उर्दू में) कविता के उस अंग को कहते हैं जिसमें कवि किसी महापुरुष अथवा उत्तम वस्तु का प्रशंसात्मक वर्णन करता है।

को उर्दू साहित्य में सबसे बड़ा स्थान प्राप्त है। सौदा क़सीदे के बादशाह हैं और मीर ग़ज़ल के। ज्ञान पड़ता है कि सौदा के सामने भी ये झगड़े थे। वे स्वयं कहते हैं:—

'लोग कहते हैं कि 'सौदा' का क़सीदा है ख़ूब,
उनकी ख़िदमत में लिये मैं यह ग़ज़ल गाऊँगा।

अर्थात् लोग कहते हैं कि सौदा का कसीदा ही अच्छा होता है, उनके सामने में आज यह ग़ज़ल पेश करूँगा (कि देखें, क्या यह किसी से कम है)।

हकीम क़ुदरत उल्ला खाँ क़ासिम अपने तज़किरे में लिखते हैं—"ज़ोम बाज़े आँ कि सर आमद शुअराय फ़साहत आमा मिरज़ा मुहम्मद रफ़ीअ सौदा दर ग़ज़लगोई बूए न रसीद: अमाहक़ आनस्त कि—'हर गुले रा रंगो बूए दीगरस्त'। मिरज़ा दरियाएस्त बेकराँ व मीर नहरेस्त अज़ीमुश्शान। दर सालूसाते क़वायद मीर' रा बर मिरज़ा बरतरीस्त, व दर क़ूवत शाइरी 'मिरज़ा' रा बर 'मीर' सरवरी।"

सच बात तो यह है कि ग़ज़ल, क़सीदे और मसनवी इत्यादि के क्षेत्र अलग-अलग हैं। जिस प्रकार क़सीदे के लिये विषयोत्कृष्टता, शब्द-योजना और वर्णन-वैचित्र्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ग़ज़ल के लिये प्रेमी-युगल के विचारों का स्वाभाविक प्रवाह, मिलन का सुख और वियोग-दुःख के अनुभव एवं वेदनामयी प्रतिभा की आवश्यकता होती है। मीर साहब की प्रवृत्ति वेदनामयी और हृदय हसरतों से भरा हुआ था। उनकी भाषा बड़ी सीधी और साफ़ है। वर्णन ऐसा है मानों प्रियतम (माशूक़) और प्रेमी (आशिक) दोनों आमने-सामने बैठे बातें कर रहे हैं।

'सौदा' की प्रकृति इसके विपरीत थी। वे सांसारिक मनुष्य थे। उनका झुकाव भोगविलासादि की ओर अधिक था। उनमें गंभीरता न थी, चंचलता थी। उनकी रचना की पंक्ति-पंक्ति से यह प्रकट होता है, मानों उनकी हृदय-सरिता फूटकर बह निकली है। उनके हृदय में जोश है, तबीयत चुलबुली है, कहने का ढंग जानते हैं। जो चीज़ उठाते हैं, उसे शब्दों से, अलंकारों से ख़ूब सजाकर लोगों के सम्मुख रख छोड़ते हैं। बाह्य रूप का जादू भी कुछ ऐसा होता है, जो बहुतों को अपनी ओर खींच लेता है।

मीर' साहब चुलबुले नहीं, गंभीर हैं। उनका हृदय असीम सागर के समान है, पर ऐसा है जो निस्तब्ध है, शान्त है। वे अनुभव रखते हैं। वे कल्पना को अनुभव की स्वाभाविकता पर ठुकरा देते हैं। उनकी ज़िन्दगी रोते-रोते बीती है।

❀ ❀ ❀ ❀

दोनों कवियों पर उपयुक्त सम्मति

एक दिन मीर' और मिरज़ा 'सौदा' की रचनाओं के विषय में दो व्यक्तियों में विवाद हो गया। दोनों, 'ख़्वाजा बासत' के शिष्य थे। उन्हीं के पास जाकर प्रार्थना की कि आप फैसला कर दीजिये। उन्होंने कहा - "दोनों प्रतिभाशाली कवि हैं, किन्तु अन्तर इतना है कि 'मीर साहब' का कलाम 'आह' है और 'मिरज़ा साहब' का कलाम 'वाह' है! उदाहरण में उन्होंने 'मीर' का निम्नांकित शेर पढ़ा —

"सिरहाने 'मीर' के आहिस्ता बोलो,
अभी टुक रोते रोते सो गया है।"

पश्चात् मिरज़ा का शेर पढ़ा—

"सौदा की जो बालीं[1] पै गया शोरे क़यामत[2],
.खुद्दामे अदब[3] बोले अभी आँख लगी है।"

ख़्वाजा साहब की यह भावमयी अलोचना निस्सन्देह बहुत उत्तम हुई है।

❀ ❀ ❀ ❀

'मीर' के दो शेर हैं—

१—हमारे आगे तेरा जब किसी ने नाम लिया,
दिल सितमज़दह को हमने थाम थाम लिया।

२—क़सम जो खाइये तो तालए .ज़ुलेख़ा की,
अज़ीज़ मिस्र का भी साहब एक .ग़ुलाम लिया।

'सौदा' के भी इसी से मिलते-जुलते शेर हैं—

१—चमन में सुबह जो उस जंगजू का नाम लिया,
सबा ने तेग़ का मौजेरवाँ से काम लिया।

२—कमाल बन्दगीए इश्क़ है .ख़ुदावन्दी,
कि एक ज़न ने महे मिस्र सा .ग़ुलाम लिया।

पाठक-वृन्द, देखिये, दोनों के भाव एक दूसरे से कितने लड़ गये हैं। दोनों कवियों के पहले शेर देखिये। मीर कहते हैं कि "हमारे सामने तेरा जब किसी ने नाम लिया, तब मैंने अपने पीड़ित हृदय को थाम-थामकर किसी प्रकार अपनी वेदनाजन्य परिस्थिति का अतिक्रमण किया।" और, 'सौदा' कहते हैं कि "चमन (उद्यान) में प्रातःकाल जो उस लड़ाके

१—बालीं = सिरहाना, तकिया। २—शोरे क़यामत = प्रलय का आर्त्तनाद। ३—.खुद्दामेअदब = सभ्यता के उपासक, विद्वान्, नौकर।

(ज़ालिम--अत्याचारी से आशय है) का नाम लिया तो (नाम लेते) 'सबा' (प्रभाती वायु) ने मौजेरवाँ (वायु-तरंग) से तलवार का काम लेना आरम्भ किया"—अर्थात् "उसकी स्मृति आते ही (वियोग के कारण) प्रभातकालीन शीतल वायु भी तलवार के सामान कष्टकर अनुभव होने लगी।"

देखिये, दोनों के कहने का ढंग निराला है, पर 'सौदा' के शेर में उतनी स्वाभाविकता, उतनी सादगी, उतनी विदग्धता नहीं है, जितनी 'मीर' के शेर में है। 'हमारे आगे तेरा जब किसी ने नाम लिया', (तो क्या हुआ ?) 'दिल सितमज़दह को हमने थाम-थाम लिया।' कितनी वेदना है! सीधे तीर-सी लगती है। ढंग ऐसा है मानों 'मीर' साहब अपने प्यारे के पास बैठे हुए अपनी बीती कह रहे हैं। दूसरे पद ने तो ग़ज़ब ढा दिया है। 'दिल सितमज़दह को हमने थाम-थाम लिया।' 'थाम-थाम लेना'! कितना स्वाभाविक है? 'थाम' की पुनरुक्ति करके कवि ने और कुछ कर दिया है। जिन्हें ऐसी स्थिति का अनुभव है, जो ऐसी प्रेम-पीड़ा का मज़ा चख चुके हैं, वे जानते हैं कि कभी-कभी हृदय में वेदना की तरंगें उठती हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई चीज़ उठ रही है और कलेजा फाड़कर ऊपर निकला चाहती है। ऐसी असह्य वेदना में प्रायः लोग हृदय को थाम-थाम लेते हैं, सीना पकड़ लेते हैं।

दूसरी ओर सौदा ने बहुत-कुछ छलाँग मारी है, पर कल्पना का ज़ोर कहाँ तक लगेगा और, ख़ासकर प्रेम के मामले में? प्रियतम के वियोग में, ऐसा कौन नीच प्रेमी होगा, जिसे प्रभाती वायु दुःखदायिनी न प्रतीत होवे? यह बात सब को मालूम है कि दुःख में अच्छी चीजें भी बुरी मालूम होती हैं। शुरू से अब

तक लोग इसे कहते आये हैं, सौदा ने भी उसी आशय पर एक दीवार खड़ी की है। मस्तिष्क की खूराक 'सौदा' की कविता में भले ही हो, पर हृदय की मरहमपट्टी करनेवाला रस उसमें नहीं हैं।

दूसरे दोनों शेरों में दोनों का अन्दाज़ अच्छा है।

❀ ❀ ❀

चमन में गुल ने जो कल दावए जमाल किया,
जमाले यार ने मुँह उसका खूब लाल किया।

('मीर')

बराबरी का तेरी, गुल ने जब खयाल किया,
सबा ने मार थपेड़ा मुँह उसका लाल किया।

(सौदा)

'मीर' के शेर का आशय है कि "कल उद्यान में गुल* (पुष्प या गुलाब) को जो अपनी सुन्दरता का अभिमान हुआ तो प्रियतम के सौन्दर्य ने (अपनी स्मृति दिलाकर) उसका मुँह लाल कर दिया!" सौदा कहते हैं—"तेरी बराबरी करने का गुल ने ज्योंही विचार किया त्योंही सबा (प्रभाती वायु) ने थपेड़ों से उसका मुँह लाल कर दिया।"

दोनों शेरों में विलक्षणता है। 'सौदा' का शेर बहुत अच्छा हुआ है, उसमें बड़ी शोखी है, पर 'मीर' साहब गंभीर हैं, वे उतावले नहीं हैं। उनका जोश इस दर्जे पर नहीं पहुँचा कि थप्पड़ों और थपेडों की नौबत पहुँचती। इस मामले में उनके मौन ने और भी चटकीलापन पैदा कर दिया है।

---

* गुल' का रंग लाल माना जाता है।

* * *

एक 'महरूम'[1] चले 'मीर' हमीं दुनियाँ से,
वर्ना आलम[2] ने ज़माने को दिया क्या-क्या कुछ।

('मीर')

'सौदा जहाँ[3] में आके कोई कुछ न ले गया,
जाता हूँ एक मै दिले पुरआरज़ू[4] लिये।

('सौदा')

'मीर' साहब निराशा और हसरत मिली तबीयत से फरमाते हैं—"दुनिया ने सभी को कुछ-न-कुछ दिया, एक हमीं ऐसे अभागे हैं जो खाली हाथ दुनिया से जा रहे हैं!"

'सौदा' साहब ने अपने कलाम में अजीब शोखी दिखाई है। कहते हैं—"संसार में बहुतेरे लोग आये, परन्तु जाते समय कोई कुछ अपने साथ ले नहीं गया, सभी खाली हाथ गये, एक मैं ही हौसलों से भरा हुआ दिल लिये यहाँ से जा रहा हूँ!"

दोनों के कलाम वियोग के साँचे में ढले हुए हैं। दोनों पर प्रियतम की निष्ठुरता की मुहर है पर ज़रा कहने के ढंग देखिये। दोनों चल फिर कर क़रीब-करीब एकही जगह पहुँचे हैं, पर एक का रास्ता तीर-घाट से है तो दूसरे का मीर-घाट से। 'मार साहब की बदकिस्मती देखिये और 'सौदा' की करामात। बेचारे 'मीर' पर दुनिया का यह अन्याय, कि वह सबको कुछ-न-कुछ

१—महरूम=त्यक्त—जिसे कुछ न मिला हो, असफल। २—आलम=संसार। ३—जहाँ=दुनिया ४—दिले पुरआरज़ू=आरज़ू (वासना) से भरा हुआ दिल।

दे, पर ये बेचारे टकटकी लगाये बैठे ही रह जायँ। हाय रे बेदर्द ज़माना! उधर 'सौदा' साहब ने अपनी बदक़िस्मती में भी बढ़कर हाथ मारे हैं। उनकी अवस्था ठीक 'मीर' के विपरीत है। वहाँ 'मीर', सबके पाने पर भी कुछ न पा सके और यहाँ और किसी को तो कुछ नहीं मिला, 'सौदा' ही के सर पर आरज़ू-भरे दिल का एक बोझ लोगों ने पटक दिया। वाह! क्या अन्दाज़ है! एक महाशय कुछ न मिलने से रोते हैं और दूसरे मिलने पर उलटी-सीधी सुना रहे हैं।

काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से सौदा ज़रूर 'मीर' के कुछ आगे बढ़ गये हैं, पर स्वाभाविकता और अनुभूत वेदना 'मीर' में कहीं अधिक है। मैंने पहले ही कह दिया है कि 'मीर' के चमन में एक टूटी-फूटी क़ब्र है जिससे हसरत से भरी हुई आह सुनाई देती है। पाठकवृन्द, देखिये, क्या इस शेर में वह वेदनाभरी आह सुनाई देती है? ध्यान से देखिये, इसमें हसरतभरी निराशा का चित्र है या नहीं?

* * *

गिला मैं जिससे करूँ तेरी बेवफ़ाई का,
जहाँ में नाम न ले फिर वह आशनाई का।

('मीर')

गिला लिखूँ मैं अगर तेरी बेवफ़ाई का,
लहू में ग़र्क़ सफ़ीना हो आशनाई का।

('सौदा')

बेचारे मीर की कविता में निराशा की कितनी गहरी छाया है! वे एकदम निराश होकर अपने प्यारे को सम्बोधित करके

कहते हैं कि "ज़रा सोचो, तुम मेरे ऊपर कितना अन्याय करते हो, मुझे कितना सताते हो ? इससे तो तुम्हारे ही यश पर धब्बा लगेगा न ? मैं अगर किसी को तुम्हारी निष्ठुरता की कहानी सुनाऊँ तो वह फिर संसार में कभी किसी से प्रेम करने का नाम न लेगा।"

सौदा की ओर देखिये तो वे इस मामले में चारों खाने चित्त हैं। आप लिखने की धमकी देते हैं। जब कहीं आप बे-वफाई का गिला (शिकायत, निन्दा) लिखेंगे तब जो कुछ होना होगा, वह होगा और यहाँ तो सिर्फ कहने ही में आदमी को प्रेम से विरक्ति हो रही है।

आशा है कि इस संक्षिप्त तुलनात्मक आलोचना से पाठकवृन्द को दोनों प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का अन्तर समझने में सहायता मिलेगी।

समता-सम्बन्धी दो-एक और बातें

मीर के भावों की छाया अनेक उर्दू-कवियों की रचना में दीख पड़ती है। यदि उन सबका तुलनात्मक वर्णन किया जाय, तो निस्सन्देह एक दीर्घकाय ग्रन्थ तैयार हो जावेगा। यहाँ मैं दो-एक शेर लिखकर पाठकों के सामने इसके उदाहरण पेश कर देना चाहता हूँ—

अब करके फ़रामोश तो नाशाद करोगे,
पर हम जो न होंगे तो बहुत याद करोगे।
(मीर)

है किसका जिगर जिस पे यह बेदाद करोगे,
लो हम तुम्हें दिल देते हैं क्या याद करोगे ?
(जुरअत)

जिस रोज किसी और पै बेदाद करोगे,
यह याद रहे हमको बहुत याद करोगे।
(सौदा)

❀ ❀ ❀ ❀

तीनो शेरों के अर्थ साफ हैं और सबमें 'मीर' की भावना, परिवर्तित रूप में विराजमान है। 'सौदा' के लिये तो 'भावापहरण का कलंक लगाया ही नहीं जा सकता. क्योंकि वे 'मीर' के समकालिक थे; पर 'जुरअत' महाशय के कलाम में 'मीर' साफ़ झलक रहे हैं।

'सौदा' के शेर में अजीब लुत्फ है। यदि करुणात्मक दृष्टि

की जगह काव्यालंकारमयी दृष्टि से इन तीनों शेरों की परख की जायगी तो निस्सन्देह 'सौदा' बाजी मार ले जायँगे। हाँ, 'मीर' का शेर भी स्वाभाविकता और सादगी के लिहाज से खराब नहीं है।

'सौदा के शेर का आशय समझने में कुछ लोगों को कठिनाई पड़ सकती है; अतएव उसे लिख देना ठीक होगा।

'सौदा' अपने माशूक़ (प्रियतम) को सम्बोधित करके कहते हैं कि "जिस दिन तुम किसी पर अत्याचार और जुल्म करने लगोगे, उस दिन (मेरी यह बात याद रक्खो) मुझको बहुत याद करोगे"—[क्यों ? इसलिये कि तुमने मेरे ऊपर अपरिमित अत्याचार किये हैं और मैं ग़रीब ठंढी साँसें लेकर उन्हें सहता आया हूँ, अतएव जब तुम किसी दूसरे पर जुल्म करना शुरू करोगे तो ख़ामख़ाह (ज़रूर) तुम्हें मेरा ध्यान आ जायगा और तुम मुझे याद करोगे कि वह भी कैसा ज़ुल्मबरदार (अत्याचार सहनेवाला) आदमी था।]

* * * *

मुद्दई मुझको खड़े साफ़ बुरा कहते हैं,
चुपके तुम सुनते हो बैठे, इसे क्या कहते हैं ?

(मीर)

तूने 'सौदा के तईं' क़त्ल किया, कहते हैं,
यह अगर सच है तो ज़ालिम! इसे क्या कहते हैं।

(सौदा)

आइना रुख़ को तेरे अहले सफ़ा कहते हैं,
उस पै दिल अटके है मेरा, इसे क्या कहते हैं।

(जुरअत)

यद्यपि उक्त तीनों कवियों के भावों में कोसों का अन्तर है, तो भी ज़मीन एक ही है। मिसरे का अन्तिम प्रश्न-वाक्य (इसे क्या कहते हैं ?) सबने अपनाया है। इसी पर तीनों ने पूर्तियाँ की हैं। 'सौदा' के शेर में कुछ विशेषता नहीं है। वे पूछते हैं कि "तूने सौदा को क़त्ल किया है, ऐसा लोग कह रहे हैं। अगर यह सच है तो ऐ ज़ालिम ! यह क्या है ?"—पहले तो अभी बात ही शुबहे में है, 'अगर सच है' ने 'क़त्ल को अनिश्चित-सा बना दिया है, फिर अगर बात सच्ची भी हो तो क्या ? 'ज़ालिम' तो सौदा ने पहले ही बना दिया है, 'फिर ज़ालिम' क़त्ल न करेगा तो क्या प्यार करेगा ? शेर साधारण है। शेष दोनों शेरों में अलबत्त: कुछ है।

मीर अपने प्यारे से पूछते हैं—"देखो, तुम्हारे सामने ही मेरे रक़ीब (प्रतिद्वन्द्वी) मुझको बुरा-भला कहते हैं, मेरा अपमान करते हैं और तुम चुपचाप बैठे-बैठे सुनते हो—उसका प्रतिवाद करने का ज़रा भी यत्न नहीं करते, बोलो यह सब क्या है, इतनी उपेक्षा का क्या मतलब है ? क्या यही तुम्हारा प्रेम है ? क्या इसी को प्यार करना कहते हैं ?"—कैसा मुँहतोड़ जवाब है ? भाषा कितनी सीधीसादी है ! मुलायम और रोती हुई ज़बान है, यह नहीं कि जोश में लट्ठ मारने को तैयार हो जायँ। मालूम होता है मानों दोनों बहुत दिनों पर मिले हैं और 'मीर साहब' बेदादों का रजिस्टर खोलकर जवाब तलब कर रहे हैं।

'जुरअत' तो इस समय दूसरी ही दुनिया में हैं। उनका कहना है कि "स्वच्छता के पारखी, तेरे मुख-मंडल को आईना (दर्पण) कहते हैं, परन्तु दर्पण ऐसी चिकनी चीज़ पर भी (मैं देखता हूँ कि) मेरा दिल अटक रहा है, यह क्या बात है ?

(चिकनी चीज़ पर तो पैर फिसल जाता है, पर यहाँ यह अटक क्यों रहा है ?)

❀ ❀ ❀ ❀

'मीर' और 'सौदा' की तुलना करते समय मैंने जो दो-दो शेर दोनों कवियों के उद्धृत किये थे, उसे यहाँ फिर लिखने की ज़रूरत आ पड़ी है, क्योंकि❀ 'जुरअत' ने भी उसी भाव पर दो-एक शेर कहे हैं।

हमारे आगे तेरा जब किसी ने नाम लिया,
दिल सितमज़दह को हमने थाम-थाम लिया।

(मीर)

चमन में सुबह जो उस जंगजू का नाम लिया,
सबा ने तेग़ का मौजेरवाँ से काम लिया।

(सौदा)

पास जा बैठा जो मै कल तेरे एक हम नाम के
रह गया बस नाम सुनते ही कलेजा थाम के।

(जुरअत)

❀ ❀ ❀

❀ यद्यपि नाम कुछ दूसरा था, किन्तु आप अधिकांशतः 'क़लन्दर बख़्श' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'जुरअत' इनका उपनाम था। मियाँ जाफ़र अली 'हसरत' के शागिर्द थे। बड़े मनोरंजन-प्रिय आदमी थे, पर इनकी शायरी साधारण दर्जा की है। इन्होंने 'मीर' के ढंग ही की नक़ल नहीं की, वरन् भावों को भी अपना लिया है। यदि तुलनात्मक आलोचना का विचार छोड़ सिर्फ़ उपलब्ध काव्य पर विचार किया जाय तो आपकी गिनती अच्छे शायरों में हो सकती है।

पहले दो शेरों की तुलना की जा चुकी है। तीसरे शेर में, 'मीर' साफ दिखाई पड़ रहे हैं हाँ, थोड़ा ढंग जरूर बदल दिया गया है। 'जुरअत' कहते हैं कि "कल मैं अनजान में तुम्हारे ही नाम के एक आदमी के पास जा बैठा, किन्तु उसका नाम सुनते ही (मुझे तुम्हारा खयाल आ गया और खयाल आते ही तुम्हारे जुल्मों की एक-एक बात याद आने लगी, अतएव) मैं कलेजा थाम कर रह गया।" शेर अच्छा है।

चमन में गुल ने जो कल दावए जमाल किया,
जमाले यार ने मुँह उसका ख़ूब लाल किया।
(मीर)

बराबरी का तेरी गुल ने जब ख़याल किया,
सबा ने मार थपेड़ा मुँह उसका लाल किया,
(सौदा)

जो तेग़े यार ने ख़ूँरेज़ी का ख़याल किया,
तो आशिकों ने भी मुँह उसका ख़ूब लाल किया।
(जुरअत)

'जुरअत' महाशय ने भावापहरण किया तो है, पर 'चालाक चोरों की भाँति—झटपट पाउडर मलकर उसका रूप बदल डाला है। 'गुल' की हिमाक़त को 'तेग़ेयार' की शर्मिन्दगी बनाकर आप बाज़ी मार ले गये हैं। जो हो।

नीचे दो-चार मिलते-जुलते शेर और दिये जाते हैं—

बुरक़े को उठा चेहरे से वह बुत अगर आये,
अल्लाह की क़ुदरत का तमाशा नज़र आये।
(मीर)

हरगिज़ न मुरादेदिले[1] माशूक़[2] बर[3] आये,
या रब! न शबे वस्ल[4] के पीछे सेहर[5] आये।
(मसहफ़ी)

उस परदा नशीं से कोई किस तरह बर आये,
जो ख़ाब में भी आये तो मुँह ढाँक कर आये।
(जुरअत)

फ़िरदौस[6] में ज़िक्र उस लबे शीरीं[7] का गर आये,
पानी देहने[8] चश्मये कौसर[9] में भर आये।
(ज़ौक़)

आशा है, इतने से ही पाठक सन्तोष-लाभ करेंगे।

१—मुरादेदिल = हृदय की इच्छा। २—माशूक़ = प्रियतम। ३—बरआये = पूरी हो। ४—शबे वस्ल = मिलन-रजनी। ५—सेहर = प्रभात। ६—फिरदौस = स्वर्ग। ७—लबे शीरीं = मधुराधर। ८—देहन = जिह्वा। ९—चश्मये कौसर = स्वर्ग-स्थित अमृतकुंड-विशेष।

'मीर' साहब-सम्बन्धी अन्य बातें

मीर साहब मझोले क़द, पतले-दुबले और गौर वर्ण के आदमी थे। प्रत्येक कार्य को बहुत सोच-समझकर और गंभीरता-पूर्वक करते थे। बात बहुत कम करते थे, आवाज़ बड़ी नरम और मुलायम होती थी। वृद्धावस्था ने इन सब बातों को और प्रौढ़ कर दिया था। भोगविलास से सदा दूर रहते थे, ज़िन्दगी ही रोते-रोते बीती थी। सन्तोषी इतने कि आजकल की दृष्टि से वह कायरता और काहिली में शुमार की जा सकती है। आत्माभिमान की मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि अधीनता तो दूर, नौकरी का नाम भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, किन्तु संसार का नियम कुछ दूसरा ही है; मनुष्य को विवश होकर उसका पालन करना पड़ता है, इसी लिये सांसारिक सुख-संभोग से 'मीर साहब' सदा दूर रहे। अधिकांश आयु ग़रीबी में अथवा फाक़ा करते बीती। अपनी बदकिस्मती की छाया में गरदन उठाये अभिमान से, आहें भरकर और उपवास करके, रहते थे। इन शिकायतों की लोगों में जो चर्चाएँ थीं, उनसे वे स्वयं भी परिचय रखते थे। एक मुख़म्मस (पंचपदी) में इसकी झलक मिलती है। कहते हैं—

हालत तो यह कि मुझको ग़मों से नहीं फ़ुराग़।
दिल सोज़िशे दरूनी से जलता है जूँ चिराग़।
सीना तमाम चाक है सारा जिगर है दाग़।
है नाम मजलिसों में मेरा 'मीर' बेदिमाग़।
अज़ बस कि कमदिमाग़ी ने पाया है इश्तिहार॥

अपने ज्ञान-भंडार और काव्य-प्रतिभा को अक्षय धन समझकर ग़रीब और अमीर किसी की परवा न करते थे, वरन् दीनता को परमात्मा की पवित्र देन समझते और परमात्म-चिन्तन में रत रहते थे। अनेकानेक कठिनाइयों को झेलकर भी अपना सर सदैव ऊँचा किये रहे। ऐसा कोई काम न करते जिससे उनकी स्वाधीनता पर कुछ बोझ पड़ता। चार दिन के भोगविलास के लोभ से अथवा दीनता के दुःख से अपने सर को दुनिया के सामने कभी न झुकाया। इनका कलाम इस बात का साक्षी है कि इनके दिल की कली और त्योरी की गिरह कभी नहीं खुली। यदि इनका अभिमान इन्हें केवल अमीरों की प्रशंसा करने से रोकता तो विशेष हानि न थी, परन्तु दुःख की बात है कि औरों के कलाम की ख़ूबियाँ भी इन्हें दिखाई न देती थीं। यह बात इनके यशरूपी शुभ्र वस्त्र पर एक भद्दे काले धब्बे के समान है। मामूली लोगों की तो कौन गिनती ? फ़ारसी के सबसे प्रसिद्ध कवि—सादी और शीराज़ी की ग़ज़ल पढ़ी जाय, तो भी वे (प्रशंसात्मक रूप में) सर हिलाना गुनाह (पाप) समझते थे !

दिल्ली में मीर कमरुद्दीनखाँ 'मिन्नत' एक कवि हो गये हैं। इन्हें कविता करने का शौक़ था। एक बार शुद्ध कराने के लिये 'मीर' साहब के यहाँ उर्दू की ग़ज़ल ले गये। मीरसाहब ने वतन पूछा, उन्होंने सोनीपत (पानीपत के पास एक स्थान है) बताया। 'मीर' ने कहा—"जनाब, उर्दू ख़ास दिल्ली की ज़बान है, आप उसमें तकलीफ न कीजिये, अपनी फ़ारसी-वारसी कह लिया कीजिये।"

एक बार नवाब तहमास्पबेगख़ाँ के पुत्र सआदतयारख़ाँ ('रंगीन'), जिनकी अवस्था १४-१५ वर्ष की थी, बड़ी सजधज से मीरसाहब के पास गये और इसलाह (संशोधन) के लिये

ग़ज़ल पेश की। मीरसाहब ने देखकर कहा—"साहबज़ादे! आप अमीर हैं, कुलीन हैं, तीरन्दाज़ी तलवार इत्यादि सीखिये, कविता दिल जलाने का काम है, आप उधर मत जाइये।" जब उन्होंने बहुत हठ किया तब कहा कि, "आपकी तबीयत इसके योग्य नहीं है। शायरी आपको नहीं आवेगी। व्यर्थ अपना समय न खोइये।" इसी प्रकार उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'नासिख़' को भी आपने बेतरह फटकार बताई थी।

दिल्ली में जब थे तब मीरसाहब ने 'अज़दरनामा' नाम की एक मसनवी लिखी। उसमें अपने को अजगर लिखा और अन्य कवियों में से किसी को चूहा किसी को कनखजूरा, किसी को बिच्छू और किसी को साँप बनाया। कहानी यों बनाई कि किसी पर्वत की घाटी में एक भयंकर अज़दहा रहता था, एक बार उसे हराने और नष्ट कर देने के लिये जंगल के सब जानवर मिलकर उससे लड़ने गये। जब सामना हुआ, अजगर ने एक ऐसी गहरी साँस ली कि सब उसके पेट में चले आये और नष्ट हो गये। इसका नाम 'अजादरनामा' रक्खा और उसे मुशायरे में लाकर पढ़ा। *मुहम्मद अमाँ निसार', शाह हातिम के शिष्यों में एक तेज

* सआदत अल्लाह के बेटे थे। ये और इनके पूर्वज 'इनजीनियरिंग' अर्थात् 'भवन-निर्माण-कला', में पारंगत थे। जब दिल्ली आबाद थी तब वहीं रहकर अपनी विद्या के बल से काल-क्षेप करते थे। दिल्ली के उजड़ जाने पर लखनऊ चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहे। शेर भी ख़ूब कहते थे। शाह हातिम के नामी शागिर्दों में से थे। रेख़्ते ख़ूब लिखे हैं। इनके दीवान अब कम मिलते हैं। मीरसाहब से और इनसे प्रायः छेड़-छाड़ रहा करती थी।

और आशु कवि थे। उन्होंने वहीं एक कोने में बैठकर पाँच-सात शेरों का एक किता' लिखा और उसी समय मुशायरे में पढ़ा। चूँकि 'मीरसाहब' की बात किसी को पसन्द न आई थी, अतएव इस 'क़िते' पर ख़ूब क़हक़हे उठे और वाह-वाह की धुन लग गई। उस क़िते का एक शेर है—

हैदरे कर्रार ने वह ज़ोर बख़्शा है 'निसारा'
एक दम में दो करूँ अज़दर के क़ल्ले चीर कर।

'मीर साहब' को यहाँ बड़ा लज्जित होना पड़ा।

लखनऊ में जब थे तब एक दिन किसी ने पूछा कि "क्यो जनाब, आप के विचार से आजकल शायर कौन-कौन हैं ?" मीर साहब ने उत्तर दिया,—"एक तो 'सौदा' और दूसरा यह ख़ाकसार है।" कुछ ठहर कर कहा—"ख़्वाजा मीर दर्द भी आधे शायर माने जा सकते हैं।" उस व्यक्ति ने पूछा, "हज़रत ! और मीर सोज़ साहब ?" झुँझलाकर बोले—"मीर सोज़ साहब भी शायर हैं ?" उसने कहा "नवाब (आसिफ़ुद्दौला) के उस्ताद हैं"। मीर साहब ने कहा—"ख़ैर, यह है तो पौने तीन सही, किन्तु सहृदय कवियों के ऐसे उपनाम मैंने कभी नहीं सुने।"*

---

* मीर साहब के सामने मजाल किसकी थी जो कहे कि उस बेचारे (मीरसोज़) ने 'उपनाम रक्खा था, जिसे आपने छीन लिया, अतएव विवश होकर यह उपनाम रखा कि न आपको अच्छा लगे, न आप उस पर अधिकार जमायें।

जिस व्यक्ति से 'मीर साहब' ने ये बातें कही थीं, उसने जाकर 'मीर सोज़' साहब से कहा कि 'हज़रत, एक आख़िम आदमी आपके उपनाम पर

एक दिन लखनऊ के कुछ प्रतिष्ठित अधिकारि-वर्ग भेंट करने तथा शेर सुनने के लिये मीर साहब के घर गये। दरवाज़े पर पहुँच कर आवाज़ दी। लौंडी निकली, समाचार पूछकर भीतर गई और एक टाट लाकर ड्योढ़ी में बिछा दिया। उसी पर लोगों को बिठाया और एक हुक्का ताजा करके उनके सामने रख गई। थोड़ी देर बाद मीर साहब बाहर तशरीफ लाये। साहब-सलामत के बाद लोगों ने शेर सुनाने का अनुरोध किया। 'मीर साहब' ने पहले कुछ टालमटूल की, फिर साफ जवाब दिया कि—"जनाब, मेरे शेर आपलोगों की समझ में नहीं आने के।" यद्यपि लोगों को बात बुरी लगी, किन्तु सभ्यता के विचार से उन्होंने पुन: अनुरोध किया। प्रस्ताव इस बार भी अस्वीकृत हुआ। निदान सब ने पूछा—'हज़रत! अनवरी व ख़ाकानी के कलाम समझते हैं, आपका क्यों न समझेंगे?" मीर साहब ने फ़रमाया —"यह दुरुस्त, मगर उनकी शरहें (टीकाएँ) मौजूद हैं और मेरे कलाम के हिये फ़क़त केवल 'मुहाविर-ए अहले उर्दू' (उर्दू बोलनेवालो के मुहाविरे) हैं या जामा मसजिद को सीढ़ियाँ। इन

आज हँसते थे। उन्होंने कहनेवाले का नाम पूछा। बहुत हठ के बाद सब हाल बताया गया। 'सोज़' साहब ने कहा कि अच्छा, अगले मुशायरे में सब के सामने मुझसे यह सवाल करना उस आदमी ने ऐसा ही किया, पूछा, "हज़रत आपका उपनाम क्या है?" उन्होंने कहा—"जनाब! फ़क़ीर ने पहले तख़ल्लुस (उपनाम) तो 'मीर' किया था, मगर उसे 'मीर तक़ी' साहब ने पसन्द किया। मैंने सोचा कि उनके सामने मेरा नाम न रोशन हो सकेगा, इसलिये मजबूर होकर 'सोज़' तख़ल्लुस किया।" बड़े क़हक़हे लगे। मीर साहब को लज्जित होना पड़ा।—'आबेहयात।'

दोनों से आप महरूम (हीन) हैं।" इतना कहकर निम्नलिखित शेर पढ़ा—

इश्क़ बुरे ही ख्याल पड़ा है चैन गया आराम गया।
दिल का जाना ठहर गया है सुबह गया या शाम गया॥

"अब आप अपने क़ायदे से कहेंगे कि 'ख्याल' के 'इये' (एक उर्दू अक्षर) को ज़ाहिर करो, लेकिन यहाँ इसके सिवा कोई जवाब नहीं कि मुहाविरा ऐसा ही है।"

जब नवाब आसिफ़ुद्दौला मर गये, सआदत अली ख़ाँ गद्दी पर बैठे तब ये दरबार जाना बहुत पहले से छोड़ चुके थे। किसी ने इन्हें तलब न किया। एक दिन नवाब की सवारी जा रही थी, ये सामने ही एक मसजिद पर बैठे थे। सवारी के सामने आने पर सब लोग तो उठ खड़े हुए, किन्तु मीर साहब योंही बैठे रहे। सय्यद इन्शा नवाब के साथ थे। नवाब ने उनसे पूछा कि "इन्शा, यह कौन आदमी है, जो मारे घमंड के उठा भी नहीं।" इन्शा ने उत्तर दिया—"हुज़ूर, ये वही स्वत्वाभिमानी मीर साहब हैं जिनका ज़िक्र प्रायः आया करता है। आर्थिक अवस्था तो ऐसी ख़राब कि शायद आज भी उपवास ही हुआ हो और हाल यह है।" लौट कर नवाब ने खिलअत (राजकीय परिधान जो प्रतिष्ठित पुरुषों को बादशाह अवसर-विशेष पर दिया करते थे) और उसके साथ एक हज़ार रुपया उपहार रूपेण भिजवाया। जब चोबदार लेकर गया तो, मीर साहब ने वापस कर दिया और कहा कि "मसजिद में भिजवा दीजिये, यह फ़क़ीर इतना निरवलम्ब नहीं है।" नवाब ने जब दूत के मुँह से यह हाल सुना तब उन्हें मीर साहब के इस त्याग पर बड़ा आश्चर्य

हुआ। इस वार सैयद इन्शा खिलअत लेकर गये और वहुत समझाया, नम्रता पूर्वक स्वीकार कर लेने की प्रार्थना की। मीर साहव ने कहा—"साहव! वे अपने मुल्क के वादशाह हैं, मैं अपने देश का वादशाह हूँ। कोई वेवक़ूफ़ इस तरह का व्यवहार करता तो मुझे शिकायत न थी। वे मुझे जानते हैं, मेरा हाल जानते हैं। इसपर इतने दिनों वाद एक दस रुपये के नौकर के हाथ खिलअत भेजी। मुझे उपवास करना स्वीकार है, किन्तु यह अपमान सहना ठीक नहीं हैं।" इन्शा ने वहुत समझाया, अपराधों के लिये क्षमा-प्रार्थना की और ख़ूब नमक-मिर्च लगाई। निदान मीर साहव ने स्वीकार किया और कभी-कभी दरवार में भी जाने लगे। नवाव साहव इनका इतना सम्मान करते थे कि अपने सामने ही कुरसी पर वैठाते थे।

मीर साहव को वहुत कष्ट में देखकर लखनऊ के एक नवाव इन्हें वालवच्चों के साथ अपने घर ले गये और महल का एक भाग रहने के लिये दे दिया। उस मकान की खिड़कियाँ वन्द थीं, उनके सामने ही एक सुरम्य उद्यान था। नवाव ने ऐसा इसलिये कर दिया था कि मनोरंजन भी हो। कई वरस वीत गये, खिड़कियाँ उसी तरह वन्द पड़ी रहीं मीर साहव ने कभी खोलकर वाटिका की ओर नहीं देखा। एक दिन एक मित्र उनसे मिलने आये। उन्होंने कहा कि "इधर वाग़ है, खिड़कियाँ खोलकर क्यों नहीं वैठते?" मीर साहव आश्चर्यान्वित होकर वोले—"इधर वाग़ भी है?" उन्होंने कहा—"इसी लिये नवाव आपको यहाँ लाये हैं कि जी वहलता रहे और हृदय प्रसन्न हो।" मीर साहव के फटे-पुराने मसविदे ग़ज़लों के पड़े थे, उनकी ओर संकेत करके कहा—

"मैं तो इस बाग़ में ऐसा लगा हूँ कि दूसरे बाग़ की मुझे खबर नहीं।"

क्या संलग्नता है ! बरसों बीत जायँ, सामने वाटिका हो, किन्तु खिड़की तक न खुले ! यह घटना मीर साहब की विदग्धता पर सबसे ज्यादा प्रकाश डालती है।

उस्ताद ज़ौक़ एक अवस्थाप्राप्त व्यक्ति से कहते थे कि "एक दिन मीर साहब के पास मैं गया। जाड़े के अन्तिम दिन थे, बसन्तागम का समय था। देखा कि वे टहल रहे हैं। उदास हैं और रह-रहकर यह मिसरा पढ़ते हैं :—

"अबके भी दिन बहार के योंही गुज़र गये।"

मैं सलाम करके बैठ गया, थोड़ी देर बाद उठा और सलाम करके चला आया। मीरसाहब को खबर भी न हुई, वे जिस ध्यान में पहले निमग्न थे उसी में लगे रहे। उनकी भावभंगी से विदग्धता और वेदना फूटी पड़ती थी।"—'आबेहयात'।

गवर्नर जेनरल और अन्यान्य उच्च राजकीय पदाधिकारिगण जब लखनऊ जाते 'मीर साहब' की प्रशंसा सुनकर भेंट करने के लिये उन्हें बुलाते, किन्तु ये सदैव अस्वीकार कर देते और कहा करते थे कि "मुझसे जो कोई मिलता है, या तो मुझ फकीर के वंश के विचार से या मेरी रचना के ख़याल से। साहब को वंश से सरोकार नहीं और मेरी रचना समझ नहीं सकते। हाँ कुछ पुरस्कार देंगे, किन्तु ऐसी मुलाकात से क्या लाभ ?"

मुहल्ले के बाज़ार में अत्तार की दूकान थी। ये भी कभी-कभी उसकी दूकान पर जा बैठते थे। उसका युवा पुत्र बड़े बनाव-शृंगार से रहता था। उसकी ये सब बातें मीर साहब को बुरी लगती थीं। उसके सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं—

'कैफ़ीयतें अत्तार के लौंडे में बहुत हैं,
इस नुसख़े की कोई न रही हमको दवा याद।"

किसी समय चित्त प्रसन्न हो गया होगा, जो फरमाते हैं—

मीर क्या सादे हैं बीमार हुए जिसके सबब,
इसी अत्तार के लड़के से दवा लेते हैं।'

'वक़ाउल्लाख़ाँ वका' उस समय के एक साधारण शायर थे। उन दिनों उन्होंने दो शेर कहे—

१—"इन आँखों का नित गर यह दस्तूर है,
दोआबा[1] जहाँ में यह मशहूर है।"*

२—सैलाब[2] से आँखों के रहते हैं ख़राबे में,
टुकड़े जो मेरे दिल के बसते हैं दोआबे में।" *

परमात्मा जाने, 'वका' के शेर को सुनकर या अपनी मौलिक सूझ से मीर साहब ने भी आँखों की उपमा 'दोआबे' से दी है। देखिये--

"वे दिन गये कि आँखें दरिया सी बहतियाँ थीं,
सूखा पड़ा है अब तो मुद्दत से यह 'दोआबा'।"

---

* दोनों शेर कितने उत्तम हैं। दूसरे में तो कमाल कर दिया है। अपनी दोनों आँखों को 'दोआबा' करार देकर कवि कहता है कि इनकी बाढ़ से इस दोआबे में बसनेवालों (मेरे दिल के टुकड़े-मेरे प्रियतम) को बड़ी तकलीफ़ होती है! १-दोआबा=पास की दो नदियों के बीच की भूमि। २-सैलाब=बाढ़।

'बक़ा' ने जब 'मीर साहब' का शेर सुना तब बहुत बिगड़े और यह 'किता' कहा :—

" 'मीर' ने गर तेरा मज़मून दोआबे का लिया,
ऐ बक़ा' ! तू भी दुआ दे जो दुआ देनी हो।
या ख़ुदा ! मीर की आँखों को दो 'आबा' कर दे,
और बीना[1] का यह आलम[2] हो कि तरवीनी हो ॥"

जो हो, परन्तु इसी मजमून की छाया पर 'मीर' ने एक अनोखी बात पैदा की है और वह सुनने योग्य है :—

"मैं राहे इश्क़[3] में तो आगे हो दोदिला[4] था,
*पर पेंच, पेश आया, क़िस्मत से यह दोराहा।"**

'बक़ा' ने और जगहां में भी 'मीर साहब' को बनाने की चेष्टा की है। एक 'क़िता' है :—

"मीर साहब ! फिर इससे क्या बेहतर[5],
इसमें होवे जो नाम शायर का।
ले के दीवाँ पुकारते फिरिये !
हर गलीकूचा काम शायर का ॥

१–बीनी = दृष्टि। २–आलम = अवस्था। ३–राहेइश्क़ = प्रेम-मार्ग। ४–दोदिला = द्विधा में पड़ा हुआ। ५–बेहतर = श्रेष्ठ।

* 'मीर' ने इस शेर में कमाल किया है। शेर का आशय है — "मैं तो प्रेम-मार्ग में पैर रखते समय ही द्विविधा में पड़ा हुआ था (हृदय का पूर्णरूपेण एक सिद्धान्त पर विश्वास नहीं होता था), पर हाय, मेरी क़िस्मत की ख़ूबी है कि (थोड़ी दूर चलकर) यहाँ आने पर यह दोराहा मिला। अब और भी गुल खिला, अब किधर जाऊँगा।"—नोट – दोनों आँखों को 'दो राहा' करार दिया है।

तोबा[1] ज़ाहिद[2] की तोबा तिल्ली है,
चल्ले बैठे तो शेख़ चिल्ली है।
पगड़ी अपनी सँभालिएगा 'मीर'
और बस्ती नहीं, यह दिल्ली है॥"

अनेक स्थानों पर 'मीर' के शेरों में फ़ारसी शेरों की छाया भी दीख पड़ती है। कहीं-कहीं तो दोनों एकदम टकरा गये हैं। यहाँ केवल दो ही उदाहरण देकर सन्तोष करेंगे—

किसी कवि का एक फ़ारसी शेर है —

बगिर्दे तुर्बतम अमश्व हजूम बुलबुल बूद,
मगर चिराग़ मज़ारम ज़रोग़ने गुल बूद।

मीर साहब ने भी वही बात कही है; मगर ख़ूब कही है—

जाय रोग़न दिया करे है इश्क़
ख़ूने बुलबुल चिराग़ में गुल के।

'बेदिल' का एक फ़ारसी शेर है—

जिन्दगी बरगर्दनम इफ़्ताद बेदिल चारः नीस्त,
शाद बायद जीस्तन नाशाद बायद ज़ीस्तन।

मीर साहब कहते हैं—

"गोशागीरी अपने बस में है न है आवारगी,
क्या करें ऐ मीर साहब, बन्दगी बेचारगी।"

❀ ❀ ❀ ❀

१—तोबा = किसी काम से घृणा-व्यंजक अस्वीकृति। २—ज़ाहिद = उपदेशक।

'मीर' और 'सौदा' के मज़मून प्रायः एक दूसरे से लड़ गये हैं। दोनों ही बड़े कवि थे, अतएव किसपर भावापहरण का दोष लगाया जा सकता है? दोनों में कभी-कभी चोटें भी चला करती थीं। 'सौदा' लिखते हैं :—

१—न पढ़ियो यह ग़ज़ल 'सौदा'! तू हरगिज़ 'मीर' के आगे,
वह इन तरज़ों से क्या वाक़िफ़, वह यह अन्दराज़ क्या समझे।
२—'सौदा' तू इस गजल को ग़ज़ल दर ग़ज़ल ही लिख,
होना है तुझको 'मीर' से उस्ताद की तरफ़।

मीरसाहब फ़रमाते हैं —

तरफ़ होना मेरा मुश्किल है 'मीर' इस शेर के फ़न में,
यों ही 'सौदा' कभी होता है, सो जाहिल हैं क्या जाने।

सौदा, मीर, दर्द, मज़हर, क़ायम, यक़ीं इत्यादि इनके सम-कालिक कवि थे और मसहफ़ी, जुरअत एवं इन्शा ने इनके अन्तिमकाल में अभ्युदय प्राप्त किया।

❀ ❀ ❀

मीर साहब के एक पुत्र थे। मालूम नहीं, अब जीवित हैं या मर गये। यद्यपि पिता की प्रतिभा नहीं थी, किन्तु आर्थिक अवस्था में उनसे भी आगे बढ़े हुए थे। 'मीर असकरी' नाम था, किन्तु प्रायः 'मीर कल्लू' के नाम से प्रसिद्ध थे। 'अर्श' उपनाम था। रचना साधारण श्रेणी की होती थी। कुछ शागिर्द भी थे। उनका एक शेर लखनऊ-निवासियों में बड़ा प्रसिद्ध है। वह यों है —

आसिया[1] कहती है हर सुबह बाआवाज़ बुलन्द,
रिज़्क़[2] से भरता है रज़्ज़ाक़[3] देहनें[4] पत्थर के।

संक्षेप में यही मीर साहब का चरित है, किन्तु जो लोग सहृदय हैं, समझदार हैं, सरस हैं, विदग्ध हैं वे मीरसाहब के जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब उनकी रचना में पावेंगे।

१—आसिया = आटा पीसने की चक्की। २—रिज़्क़ = रोज़ी, भोजन। ३—रज़्ज़ाक़ = पालन-पोषण करनेवाला, भोजन देनेवाला, परमात्मा। ४—देहन = मुँह।

सरसरी नज़र

The poets eye, in a fine frenzy, rolling.
Dost glance from heaven to earth,
from earth to heaven.

—Shakespeare.

'मीर' साहब की सम्पूर्ण कविता उनकी वेदनाभरी आहों का प्रतिविम्ब है, उनकी कविता में इसके सिवा और कुछ है ही नहीं। हॅसनेवालों को उनकी 'शायरी' फीकी मिठाई है और रोनेवालों के लिये अमृतमय हृदय के ऑसुओं का शान्त, सुस्थ और गम्भीर समुद्र। जो ऑसुओं का मूल्य लगा सकते हों; जो दूसरों का हृदय का दूसरों की वेदना का, दूसरों के पागलपन का अनुभव कर सकते हों; जो मरना और मरने का मजा, जीना और जीने का रहस्य समझते हों, उन्हीं को 'मीर' के इस हृदय ताप-जन्य ऑसुओं के अमृतकुंड में स्नान करना चहिये। दूसरे पर मरने का मजा स्वार्थ से दूर पागलों की धूनी रोने का अलौकिक सुख सब मिलेगा; पर केवल उन्हें जो मरते हैं अथवा मरना चाहते हैं, जो पागल हैं अथवा पागलों के रास्ते में क़दम रख चुके हैं, जो रो चुके हैं अथवा रो रहे हैं। हृदय की प्यारी मीठी वेदनामयी आकृति से शून्य नीरस हृदयों को यह सरोवर निर्जल ही सा प्रतीत होगा।

मीरसाहब ने जो कुछ कहा है, उसमें मस्तिष्क नही, हृदय लड़ाया है; अतएव उनकी कविता की जॉच सहृदयता की कसौटी पर होनी चाहिये, मस्तिष्क और तर्क के तराजू पर नहीं। उनकी कविता में चमत्कार नही है; पर जादू का असर है। वहॉ सजावट और शृंगार नहीं, टूटाफूटा अधरंगा, पर स्वाभाविक चित्र है। उनकी आहों में असर है और खूब है, यहॉ तक है कि कहीं-कहीं वे भी ताव में आ गये हैं। जहॉ तक हो सका है, उन्होंने अपनी आहों से अपने हृदय को ही जलाया है, दुनिया को जलाने की

चेष्टा से कभी उन्होंने कुछ नहीं किया, जैसा एक दूसरे उर्दू कवि ने कहा है—

'फूँक दे सबको ज़मीं हो आसमाँ हो कोई हो,
*हम नहीं ऐ आह! तो सारा ज़माना हेच है**

'मीर' को भी अपनी आहों के असर पर कुछ शुबहा नहीं है। वे भी लिखते हैं—

करूँ जो आह ज़मीं वो ज़माँ जल जाय।
सपहरे नीली का यह सायबाँ जल जाय।

अर्थात् "यदि मैं आह लूँ तो सम्पूर्ण पृथिवी और उसपर के जीव-जन्तु जल जाँय, इसके अतिरिक्त आसमान का जो यह नील-वितान है सो भी जलकर खाक हो जाय।"

परन्तु आपने कभी इस आह की आजमाइश नहीं की। दयालु प्रकृति के सरस-हृदय आदमी से यह काम होता भी कैसे? चुनांचे खुद ही फ़रमाते हैं—

मैं गिरिय-ए ख़ूनी को रोके ही रहा वर्ना,
एक दम में ज़माने का याँ रंग बदल जाता।†

---

* किसी हिन्दी कवि ने भी कहा है—

बिरह की ज्वालनि सों बीजुरी जराइ डारौं,
स्वासनि उड़ाऊँ बैरी बेदरद बादरनि।

† वियोग-जन्य ताप से ज़माने का रंग कैसे बदल जाता है, इसका सुसंगठित 'विकास-क्रम' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'शंकर' के शब्दों में सुन लीजिये—

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बनि अम्बर तें ऊँची चढ़ जायगी।

"मैं इस ख़ूनी आह को रोके ही रहा, अन्यथा यदि कहीं एक बार भी निकल जाती तो (क्या होता?) ज़माने की शक्ल ही बदल जाती। फिर क्या दुनिया इसी तरह आबाद रहती? उस वक्त तो हालत ही कुछ और होती।"

ऐसा कहकर मीर साहब ने अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया है। वास्तव में वियोग की व्यथा ही ऐसी दारुण होती है। जब हृदय जलने लगता है, ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी गरमी से संसार भी फूँक दिया जा सकता है। दूसरों की दृष्टि में तो अतिशयोक्ति ज़रूर मालूम होगी, पर कवि ने इसमें अपनी असह्य यंत्रणा को अनन्तकाल तक के लिये जीवित करके छोड़ दिया है। बिचारा कवि करे क्या, विरहाग्नि की जलन ही ऐसी होती है।*

दोनौं ध्रुव छोरन लौं पल मैं पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।
झारैंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति,
जारैंगे खमंडल मैं आग मढ़ जायगी।
काहु बिधि बिधि की बनावट बचैगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

'कवि' के इस 'प्रोग्राम' में अतिशयोक्ति की जो पराकाष्ठा है, वह बहुत ही सुन्दर हुई है।

* विरहाग्नि की असह्यता प्रमाणित करते हुए श्रीहर्ष ने नैषध में एक स्थान पर लिखा है—

"दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा,
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।

आहों के वर्णन में उर्दू-कवियों ने बड़ा परिश्रम किया है और इस ज़मीन पर अपने-अपने तर्ज़ में सभी लोगों ने थोड़ा-बहुत कहा है। मीर साहब ने भी इसपर बहुत-कुछ, शब्दों के साँचे में, ढाला है। यहाँ अधिक नहीं—उनके दो-चार शेर लिख देना उचित होगा।

आहों के शोले जिस जा उठते थे 'मीर' से शब,
वाँ जाके सुबह देखा मुश्ते गुबार पाया।

अर्थात् "जिस स्थान पर कल रात को मीर के मुँह से आहों के शोले (लपेटें) निकलते थे, आज सुबह (वहाँ) जाकर देखा तो एक मूठ धूल पड़ी हुई थी।"

हृदय में जो ज्वालामुखी धधकता था, उसने पहले उस हृदय ही को—मीर ही को—जलाकर ख़ाक कर डाला। वाहरे, बेदर्द आह!

पैदा है कि पेनहाँ थी आतिशनफ़सी मेरी,
मैं ज़ब्त न करता तो सब शहर यह जल जाता।

दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः,
प्रियसपासुमुपासितुमुद्धुराः॥

अर्थात् "साधारण आग में जलने की व्यथा कुछ विशेष नहीं है, विरहजन्य व्यथा ही असह्य वेदना है अन्यथा विरहिणी स्त्रियाँ (मृत) पति से मिलने के लिये आग में क्यों कूद पड़ती हैं?"—कितना अच्छा कहा है!

अर्थात् यह बात साफ है कि मेरी दाहक वासनाएँ गुप्त थीं। यदि मैं उन्हें न रोकता तो यह सारा शहर जलकर खाक हो गया होता।

ज़ौक़ ने भी इसी ज़मीन पर कहा है—

न करता ज़ब्त मैं नाला तो फिर ऐसा धुआँ होता।
कि नीचे आसमाँ के एक नया और आसमाँ होता।

बड़ी कृपा हुई जो दूसरे 'विश्वामित्र' बनने की इच्छा को आपने कार्य रूप में परिणत होने से बाज़ रक्खा।

❀ ❀ ❀

तारे तो ये नहीं, मेरी आहों से रात की,
सूराख़ पड़ गये हैं तमाम आसमान में।—'मीर'

अर्थात् 'जिन्हें तुम तारे समझते हो, ये वस्तुतः तारे नहीं हैं, वरन् मेरी रात की आहों से आसमान में जो सूराख़ (छिद्र) पड़ गये हैं, वही चमक रहे हैं।"

❀ ❀ ❀

नीला नहीं सपहर[1], तुझे इश्तबाह[2] है,
दूदे[3] जिगर से मेरे यह छत सब सियाह[4] है।—'मीर'

अर्थात् "आकाश को जो तुम नीला कहते हो, यह तुम्हारा भ्रम भर है। वस्तुतः यह नीला नहीं है, यह तो मेरे दिल की आहों से उठते हुए धुएँ के कारण काला पड़ गया है।"

❀ ❀ ❀

१–सपहर = आकाश। २–इश्तबाह = शुबहा, सन्देह, भ्रम।
३–दूदेजिगर = दिल का धुआँ। ४–सियाह = काला।

मीर साहब की सम्पूर्ण रचना ही उनकी 'आह' है, अतएव अब उनकी आहों का अलग वर्णन न करके, उनकी रचना ही आपलोगों के सामने रखना उचित होगा। दिलदार आँखें और सहृदय कान उसमें स्वयं ही आह की जलन का अनुभव कर लेंगे।

चुने हुए शेर

'मीर' के शेर का अहवाल कहूँ क्या 'ग़ालिब',
जिसका दीवान कम अज़ गुलशने कशमीर नहीं।

—ग़ालिब

Poetry lifts the veil from the hidden beauty of the world, and makes familiar objects to be as if they were not familiar.

—*Shelley.*

१—धोका है तमाम बहरे दुनिया[1]
देखेगा पै होंठ तर न होगा।

यह संसार-सागर केवल धोका ही धोका है, भ्रम मात्र है। यह दीख तो पड़ता है, पर होंठ कभी तर नहीं होते।

साधारण से साधारण लोग मृगतृष्णा की व्याख्या से परिचित हैं। मीर साहब ने भी वही बात कही है। कहने में सादगी है, पर भाव में अनोखापन भी साथ ही है। वेदान्त का सार इस एक शेर में लाकर मीर साहब ने रख दिया है, और इसमें उन्हें सफलता भी ख़ूब हुई है।

मीर साहब की इस दार्शनिकता में भी सहृदय पाठक उनके दिल की असह्य वेदना और निराशा का तांडव देखेंगे।

❀ ❀ ❀

२—नमूद[2] करके वहीं बहरेग़म[3] में बैठ गया,
कहे तो मीर भी एक बुलबुला था पानी का।

कहना चाहें तो कह सकते हैं कि मीर भी पानी का एक बुलबुला था जो एक बार प्रकट होकर फिर दुःख-सागर में निमग्न हो गया।

मीर साहब ने अपने बहाने से एक व्यापक नियम को चित्रित किया है। जो लोग प्रकृतिवादी हैं, उनके लिये तो और भी सुविधा है। उनका यह सिद्धान्त कि सम्पूर्ण वस्तुएँ प्रकृति ही से

१—बहरे दुनिया = संसार-सागर। २—नमूद = प्रकट। ३—बहरेग़म = दुःख-समुद्र।

उत्पन्न होतीं और अन्त में उसी में मिल जाती हैं, मीर के इस शेर में बड़ी अच्छी तरह झलकता है। बुलबुले से मानव-जीवन की समानता देकर मीर ने भगवान् और मनुष्य के अभेद भाव को भी स्पष्ट कर दिया है।

❀ ❀ ❀

२—जुज़[1] मर्तबए-कुल[2] को हासिल[3] करे है आख़िर[4],
एक क़तरा[5] न देखा जो दरिया न हुआ होगा।

अंश (अपूर्ण) कभी न कभी पूर्णता की पदवी अवश्य प्राप्त करता है। ऐसा एक भी क़तरा नहीं जो दरिया न हुआ हो।

कवि के इस शेर में भी वेदान्त का रहस्य प्रतिपादित हुआ है। जैसे जलबिन्दु, नदी से अलग कोई वस्तु नहीं है—दोनों एक ही हैं—अभेद हैं, उसी प्रकार अंश भी पूर्णता का एक खंड होने के कारण उस पूर्ण वस्तु से अलग नहीं है। 'अपूर्ण' मनुष्य मुक्त हो जाने के पश्चात् 'पूर्ण' हो जाता है और उस समय वह सम्पूर्ण विश्व में—ब्रह्मांड में—अपने पूर्ण और व्यापक रूप का अनुभव करता है। 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ, तब वह ऐसा कहने योग्य हो जाता है। 'जुज़' और 'मर्तबएकुल' एवं 'क़तरा' और 'दरिया' का कितना अच्छा उदाहरण कवि ने देकर वेदान्त ज्ञान की सम्यक् समीक्षा की है!

ग़ालिब का भी एक बहुत उम्दा शेर है जिसमें यही झलक दीख पड़ती है—

१—जुज़=अंश। २—मर्तबए-कुल=पूर्णता का दर्जा। ३—हासिल=प्राप्त। ४—आख़िर=अन्त में। ५—क़तरा=जलबिन्दु।

इशरते[1] क़तरा है दरिया में फ़ना[2] हो जाना।
दर्द[3] का हद[4] से गुज़रना है दवा हो जाना॥

अर्थात् जलबिन्दु का गौरव नदी में मिलकर नष्ट हो जाने ही में है—(क्योंकि नष्ट होकर वह अपनी सत्ता को और विस्तृत कर देता है)—इसी से प्रकट होता है कि वेदना की सीमा का अतिक्रमण होना हो, दवा हो जाना है (क्योंकि जो लाभ दवा से होगा वही, वरन् उससे भी अधिक, 'दर्द के हद से गुज़रने' पर होगा।)

इस शेर में कवि ने 'जीवन मरण-रहस्य' की अच्छी व्याख्या कर दी है। 'उद्भव' और 'विनाश' एकही क्रिया के दो रूप हैं—इस भाव को बड़ी अच्छी पालिश करके कवि ने सामने ला रखा है।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय 'अकबर' ने भी मरने-जीने का रहस्य एक जगह कहा है—

जो देखी हिस्टरी[5] क़ौमों की तो ऐसा नज़र आया।
उसे जीना नहीं आया जिसे मरना नहीं आया।

❀ ❀ ❀

४—गुल वो बुलबुल बहार में देखा।
एक तुझको हज़ार में देखा॥

१–इशरत=ऐश्वर्य, गौरव, बड़प्पन। २–फ़ना=नाश। ३–दर्द=पीड़ा, वेदना। ४–हद=सीमा। ५–हिस्टरी=हिस्ट्री (History), तारीख, इतिहास।

अर्थ साफ है। इस शेर में, अपने प्रियतम अथवा परमात्मा के अनन्त और व्यापक सौन्दर्य को दिखाकर मीर ने व्यापकता का रहस्य बड़े उत्तम रूप से खोला है।

'मीर दर्द' उर्दू के एक प्रसिद्ध सूफी शायर हो गये हैं, वे 'मीर' के समकालिक थे। एक शेर में वे भी कहते हैं—

जग में जाकर इधर-उधर देखा।
तू ही आया नज़र जिधर देखा।

अर्थात् "इस संसार में आकर मैंने जहाँ कहीं देखा, तू ही दिखाई दिया!" परमात्मा की व्यापकता का अनुभव करके 'मीरदर्द' ने क्या अच्छा चित्र खींचा है!

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि विहारी ने अपने एक सोरठे में इसी भाव को और भी ख़ूबी के साथ चमकाया है—

मैं समुझ्यो निरधार, यह जग काँचो काँच सो,
एकै रूप अपार; प्रतिविम्बित लखियत जहाँ।

देखिये 'विहारी' ने वेदान्त के 'प्रतिविम्बवाद' को, काँच का उदाहरण देकर, कितनी सफलता के साथ समझाया है। आप कहते हैं—"दुनिया की अज्ञानमयी माया में डूबे हुए मदमत्त जीवो! मैंने भली भाँति परीक्षा करके देख लिया है कि यह संसार कच्चे काँच के समान (प्रतिविम्बग्राही, पर) क्षण भंगुर है। इस शीशे में एक ही रूप (ब्रह्म) अपार रूपों में—अनेकानेक भावों में—प्रतिविम्बित हो रहा है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी के विराट् रूप का प्रतिविम्ब है!"—वाह! कितनी अच्छी व्याख्या है!

❀ ❀ ❀

५—उसे ढूँढ़ते 'मीर' खोये गये,
कोई देखे इस जुस्तजू की तरफ़ !

मीर साहब फ़रमाते हैं कि मैं ढूँढ़ने तो उसे (प्रियतम—परमात्मा) चला था, पर स्वयं ही खो गया। कोई मेरे इस अन्वेषण-कार्य की ओर देखे !

अर्थात् मैं पता तो उसका लगाने चला था, पर उसको खोजते-खोजते अपनी ही सत्ता खो बैठा। (उसी में विलीन हो गया !)

'ग़ालिब' ने भी क्या अच्छा कहा है—

बहुत ढूँढ़ा उसे फिर भी न पाया,
अगर पाया, पता अपना न पाया।

अर्थात् "ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हैरान हो गया, फिर भी उसे न पा सका और जब पाया तो अपना ही पता न रहा।"❀

❀ ब्रह्म की विशाल और अनन्त सत्ता में मिल जाने के प्रायः चार दर्जे हैं। जब भक्ति की प्रबलता होती है तब प्रथम मनुष्य परमात्मा (ज्ञेय) और अपने सम्बन्ध को जिन शब्दों से प्रकट करता है उसे संस्कृत भाषा के दार्शनिक साहित्य में 'तस्यैवाहम्' कहते हैं। इसका अर्थ होता है, 'मैं उसका हूँ'। इसके बाद का दर्जा 'तवैवाहम्' है अर्थात् 'मैं तुम्हारा हूँ'। पहली श्रेणी में 'मैं उसका हूँ' था और उसके बाद 'मै तुम्हारा हूँ' हुआ। दोनों को ध्यान से देखिये तो मालूम होगा कि दूसरे में पहले की अपेक्षा अधिक घनिष्ठता है। प्रथम पद में परमात्मा अन्य पुरुष में हैं और दूसरे में जैसे दोनों अधिक पास हैं। इसके बाद तीसरा खंड आता है जिसमें जीव अपने लक्ष्य के और भी पास हो जाता है। इसको संस्कृत में 'त्वमेवाहम्' कहते हैं; इसका अर्थ है—'मै, तू हूँ' अर्थात् 'जो मैं हूँ, वही तुम हो'। इस तीसरे रूप में परमात्मा और मनुष्य दोनों में समानता आ गई है। साधक अपने में परमात्मा की अखंड सत्ता का अनुभव करने

'हश्र' भी कहते हैं—

तेरी गली में आकर खोये गये हैं दोनों,
दिल मुझको ढूँढ़ता है मैं दिल को ढूँढ़ता हूँ।

अब दार्शनिक विचारों को छोड़कर और भी कुछ देखिये।

❀ ❀ ❀

६—देगी न चैन लज़्ज़ते ज़ख्म[1] उस शिकार को
जो खाके तेरे हाथ की तलवार जायगा।

जो मनुष्य तेरे हाथ की तलवार 'खाकर' जायगा, उसे पीड़ा का स्वाद चैन से रहने न देगा अर्थात् उस वेदना में उसे इतना मजा आवेगा कि वह फिर-फिर, बार-बार, तुम्हारे हाथ की तलवार खाना चाहेगा। बार-बार 'खाते रहने' पर भी उसका पेट नहीं भरेगा।

ठीक है। यही तो प्रेम की विचित्रता है कि प्रियतम के दुःख देने, अत्याचार करने पर भी प्रेमी बेचारा अपना सम्पूर्ण आत्मगौरव भूलकर उसके दरवाजे पर बार-बार जाता है। (क्यों?) इसीलिये तो कि उसे अपने प्यारे के अत्याचारों में भी एक सौन्दर्य दीख पड़ता है, मजा आता है। तभी तो किसी अँगरेजी कवि ने सूत्र-

लगा है; दोनों में घनिष्टता इतनी अधिक है, जितनी हो सकती है, पर अभी 'मैं-और तुम' दोनों एक नहीं हुए, दोनों में भेद-भाव है। इसी के बाद वह दर्जा आता है, जिसमें मनुष्य 'तुम' को या 'मैं' को—दोनों में से एक को—भूल जाता है तब वह अनन्त शक्ति में विलीन होकर अनन्त हो जाता है। तब उसे अपनी क्षुद्र सत्ता का अनुभव नहीं होता। उसमें मिल जाने के बाद ही की अवस्था 'अगर पाया, पता अपना न पाया' में दिखाई देती है।

1—लज़्ज़ते ज़ख्म = चोट का स्वाद।

वत् कहा है—"Love is pleasant woe." अर्थात् 'प्रेम एक आनन्दमयी आह है।'

*　　　　*　　　　*

७—आलम[1] में कोई दिल का तलबगार[2] न पाया,
इस जिन्स का याँ हमने ख़रीदार न पाया।

मीर साहब कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार छान मारा, पर कोई दिल का तलबगार न मिला, जान पड़ता है कि यहाँ इस वस्तु का कोई ख़रीदार नहीं है।

हृदयहीन ज़माने में ग़रीब दिल को कौन पूछे? संसार में इस दीन पर जितना अत्याचार होता है? हाय! बेचारे का ख़रीदार न हुआ! दिल की इतनी बदकिस्मती, मानवता के लिये कलंक है।

ऐसा नहीं है कि केवल 'मीर' के ही दिल की यहाँ बेक़दरी हुई हो; सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक ऐसे पागलों के बदनसीब दिलों का सदैव अपमान हुआ है. सदा वे कुचले, ठुकराये गये हैं। भोलेभाले मीर तो बेचने गये थे, ज्यादा दाम से, पर यहाँ तो लोग चिल्लाते फिरते हैं—

* *मुहब्बत की उचटती सी नज़र इस दिल की क़ीमत है,*
यह सौदा बिक रहा है, आप क्या इरशाद करते हैं?

फिर भी कोई खरीदार नहीं मिलता। यह बात दुनिया की ग़रीबी की नहीं, वरन् उसकी हृदयहीनता की सूचना देती है।

जान पड़ता है कि पीछे से—ठोकर खाने पर—मीर साहब

१-आलम=संसार। २-तलबगार=जिसको जरूरत हो।

* यह शेर मित्रवर 'हश्र' का है।

को प्रेम-हाट की असलियत मालूम हुई, तभी तो वे एक स्थान पर लोगों को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

सौदाई[1] हो तो रक्खे बाज़ार इश्क[2] में पा[3],
सर मुफ़्त बेचते हैं, यह कुछ चलन हैं वाँ का।

अर्थात् जो पागल हो उसी को प्रेम की हाट में पैर रखना उचित है; क्योंकि वहाँ की यह चलन है कि बेचनेवाले अपना सर मुफ्त में बेचा करते हैं (मृत्यु का आवाहन किया करते हैं)।"

* * *

८—शाम ही से कुछ बुझा सा रहता है,
दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिस[4] का।

वियोग का चित्र है। मीर साहब फरमाते हैं कि मेरा दिल शाम ही से बुझा-सा—बेजान-सा, गिरा हुआ—रहता है, वह ग़रीब लोगों के चिराग़ के समान हो गया है।

ग़रीबों के घर में जो दीपक जलते हैं, उनकी शिखा इतनी धीमी होती है कि उसे पूरा नहीं तो 'आधा बुझा हुआ' अवश्य कह सकते हैं।

* * *

९—हर क़दम पर थी उसकी मंजिल लेक[5],
सर से सौदाए जुस्तजू[6] न गया।

कोरे विद्वान्, तर्क के मद में डूबे हुए, पर अनुभवहीन,

१—सौदाई=पागल। २—बाज़ार इश्क=प्रेम का बाज़ार। ३—पा=पैर। ४—मुफ़लिस=ग़रीब। ५—लेक=लेकिन, किन्तु। ६—सौदाए-जुस्तजू=अन्वेषण का पागलपन।

दार्शनिकों के लिये यह शेर बहुत शिक्षाप्रद है। मीर साहब कहते हैं कि उसका निवासस्थल प्रत्येक पग पर था. किन्तु अन्वेषण के पागलपन और मद ने हमें घेरकर तबाह कर दिया। मैं उसी के घमंड में भूला रह गया।

'हर कदम पर थी उसकी मंज़िल'—कहकर कवि ने परमात्मा के विराट् और व्यापक रूप का निदर्शन कराया है।

जो लोग परमात्मा का पता लगाना चाहते हैं उनको तर्क और बुद्धि का मद छोड़कर देखना चाहिये कि जिसको मैं खोज रहा हूँ, वह तो पास है, निकट है, हमीं में है, हमीं हैं।

१०—इब्तिदा[1] ही में मर गये सब यार,
इश्क़ की कौन इन्तिहा[2] लाया।

सब लोग आरम्भ ही में मर गये, कोई ऐसा नहीं बचा जो प्रेम की अन्तिम सीमा का तो पता लगाता।

* * *

११—पाया न यों कि कर लें उसकी तरफ इशारा।
यों तो जहाँ में हमने उसको कहाँ न पाया।

अर्थात् यों तो मैं जानता हूँ कि वह संसार में सभी जगह है. व्यापक है; परन्तु कभी इस रूप में (प्रत्यक्ष-शरीरधारी) न पाया कि उसकी ओर संकेत करके कुछ कहता।

* * *

१—इब्तिदा = आरम्भ। २—इन्तिहा = अन्त।

१२—क्यों कर तू मेरी आँख से हो दिल तलक गया,
यह बहर[1] मौजखेज़[2] तो असरुलअबूर[3] था।

अर्थात्, "समझ में नहीं आता कि तू मेरी आँखों के रास्ते होकर दिल तक कैसे पहुँचा (कि वहाँ आसन जमा लिया अथवा उसे चुराकर ले भागा)। आँखों के रास्ते में जो विशाल तरंग-मय सागर था, वह तो इस योग्य न था कि आसानी से पार किया जा सकता।"

'मीर' ने तो सीधीसादी बात कहकर चुप्पी साधी। उस बेचारे के मस्तिष्क में वियोग-व्यथा सहते-सहते इतनी ताक़त नहीं रह गई थी कि वह और उड़ान मार सकता, पर उर्दू और हिन्दी के अन्य कवियों ने इसपर कुछ उक्तियाँ कही हैं।

'ज़ौक़' का एक शेर है—

खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमें किधर से।

अर्थात् 'हमारा दिल तो सदैव (ग़म से) बन्द ही रहता है—(कभी खुलता नहीं—प्रसन्न नहीं होता), फिर तू न जाने किधर से उस बन्द दिल में घुस आता है'!

अजीब डाका है! भला अब इसकी क्या दवा की जा सकती है? यहाँ ब्रिटिश गवर्नमेंट का पुलिस-विभाग भी चारो खाने चित है।

हाँ, ज़रा 'बिहारी' की भी करामात देखिये—

१—बहर = समुद्र। २—मौजखेज़ = तरंगमय। ३—असरुलअबूर = पार करने में जो कठिन हो।

देख्यौ जागत वैसिये, साँकरि लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि, को जाने केहि बाट॥

दोहाकार ने कमाल किया है। शेर की अपेक्षा दोहे में कहीं ज्यादा चमत्कार है, अनूठापन है।

दोहे का भाव समझ लीजिये। चारों ओर से कपाट बन्द करके नायिका सो रही है। स्वप्न में उसका उसके प्रिय से मिलन हुआ। उसने देखा कि वह आये हैं। इतने ही में उसकी नींद खुल गई। जागकर देखा तो किवाड़ ज्यों-के-त्यों बन्द हैं, परन्तु उसे इतने पर भी पूर्णरूपेण विश्वास नहीं हुआ कि मैं स्वप्न देख रही थी, वस्तुतः यह कुछ नहीं था। उसने यही समझा कि जो कुछ हुआ है, वह भ्रम नहीं, ठीक है। फिर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और वह सोचने लगी कि "क्या बात है? किवाड़ ज्यों-के-त्यो बन्द हैं, साँकल भी वैसे ही लगी हुई है, फिर वह किधर से आये और इतनी जल्दी किधर से चले गये, कुछ समझ में नहीं आता!"

* * *

१३—धोके तेरे किसी दिन मैं जान दे रहूँगा,
करता है माह मेरे घर से गुज़ार हर शब।

यह एक मामूली बात है कि कवि लोग प्रियतम के मुख की उपमा चाँद से दिया करते हैं। उसी भाव को लेकर 'मीर' ने इस शेर में एक जान डाल दी है। वह कहते हैं—"प्यारे! मेरे घर से होकर चाँद प्राय गुज़रा करता है। उस भ्रम की अवस्था में जब वह (जिसे उस समय मैं तुम्हें समझता हूँ) मुझसे बिना बोले रूठा-सा चला जाता है तो मुझे बड़ा दुःख

होता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि किसी दिन इसी प्रकार भ्रम में मैं जान दे दूँगा।"❀

इस शेर में मीर की काव्य-प्रतिभा का समुज्ज्वल विकाश हुआ है।

❀ ❀ ❀

१४—मजलिस में मैंने अपना सोज़ेजिगर कहा था,
रोती है शमा तब से बेइख्तियार हर शब।

अर्थात् "बहुत दिनों की बात है, एक दिन मैंने मजलिस (सभा) में अपनी हृदय-व्यथा कही थी। (औरों पर क्या असर हुआ, इसकी तो बात ही न पूछिये) जड़ मोमबत्ती (दीपक) तक, तभी से उसकी याद करके, प्रति दिन रात को रोया करती है।" कितना बढ़िया शेर है!

❀ ❀ ❀

१५—'मीर' साहब भी चूके ऐ बदअहद[1],
वर्ना देना था दिल क़सम लेकर।

❀ बहुत दिन हुए, मैंने कहीं पण्डितराज का एक श्लोक पढ़ा था। इस समय वह मुझे याद नहीं है; परन्तु उसमें उन्होंने चन्द्र और नायिका-मुख पर एक बड़ी ही अच्छी उक्ति कही है। आशय मुझे याद है:—

अँधेरी रात है। काली घटा छाई हुई है। ऐसे समय पूर्ण शृंगार करके एक अभिसारिका अपने प्रियतम के घर की ओर चली जा रही है। एकाएक बिजली चमकी। निशा की निगाह जो उसके मुख पर पड़ी तो उसने सोचा कहीं मेरे आँसुओं में बहकर मेरा प्यारा चन्द्र तो पृथ्वी पर नहीं गिर गया। ऐसा सोचकर दुःख के कारण उसका हृदय फट गया।

१—बदअहद = विश्वासघाती, प्रतिज्ञा करके उसे न निबाहनेवाला।

पागल मीर भी क्या भोला है ! वह नहीं जानता कि ऐसे कठोर-हृदय लोगों को अपनी प्रतिज्ञाएँ तोड़ने में कितनी देर लगती है ।

❀ ❀ ❀

१६—आह नाले मत किया कर इस क़दर बेताब हो,
ऐ सितमकश[1] 'मीर' ज़ालिम है जिगर[2] भी दिल के पास।

"ऐ अत्याचार-पीड़ित मीर ! इतना वेचैन होकर इस तरह आहे मत भरा कर, तू जानता नहीं कि दिल के पास ही जिगर (कलेजा) भी है । (अभी तक तो दिल ही बेचैन है, यदि किसी प्रकार रोने-चिल्लाने का यह समाचार जिगर तक पहुँच गया तो फिर और आ बनेगी । फिर तो 'एक न शुद दो शुद' वाला मामला चरितार्थ हो जायगा ।

❀ ❀ ❀

१७–ऐ गिरियः ! उसके दिल में असर ख़ूब ही किया ,
रोता हूँ जब मैं सामने उसके तो दे है हँस ।

मीर साहब अपनी क़िस्मत पर आँसू बहाते हुए कहते हैं-- "ऐ मेरी आह ! तू ने उसके हृदय पर खूब प्रभाव डाला (यह वाक्य व्यंग्यमय है) कि जब मैं उसके सामने रोता हूँ तो वह हँस देता है !"

सहृदयता की दुहाई देकर मैं ऐसे निष्ठुर-हृदय लोगों से अनुरोध करूँगा कि ज़रा अपने कृत्य पर विचार कीजिये । एक

१—सितमकश = अत्याचार-पीड़ित । २—जिगर = कलेजा ।

आदमी आपपर मरता है, उसे आपको देखे बिना चैन नहीं पड़ती, खाना-पीना-सोना सब खराब मालूम होता है। वह आपके लिये रोता है, पर आप क्या करते हैं? आप मनुष्यता की छाती कुचलकर जो कुछ करते हैं, वह आप ही की गरदन नीचे झुकाता है। मरते हुए आदमी के साथ सहानुभूति दिखाना तो दूर, आप चुप भी नहीं बैठ सकते! उसको रोते हुए, कराहते हुए देखकर आप हँसते हैं! वाहरी मनुष्यता? मानवता का इससे विकट और नंगा रूप और क्या हो सकता है?

*　　　*　　　*

१८-गुलचीं[1]! समझ के चुनियो कि गुलशन[2] में मीर के,
लख्तेजिगर[3] पड़े हैं नहीं बर्गहाय गुल[4]।

मीर साहब फरमाते हैं कि "हे माली! मीर की वाटिका से फूलों को जरा सँभलकर चुनना; क्योंकि ये जो सामने गुलाब की लाल पँखुरियाँ दीख पड़ती हैं, गुलाब की नहीं हैं, कलेजे के टुकड़े चीरकर फेंके हुए हैं।"

इन्हीं रचनाओं में 'मीर' के जीवन का प्रतिबिम्ब पाठकों को मिलेगा।

लाल फूलों से प्रायः कलेजे की उपमा दी जाती है। वसन्त में वियोग-वर्णन करते हुए हिन्दी-कवियों ने अनेकानेक स्थानों पर

१—गुलचीं=माली। २—गुलशन=वाटिका। ३—लख्तेजिगर =कलेजे का टुकड़ा। ४—बर्गहाय गुल=गुलाब-पुष्प की पत्तियाँ।

ऐसा लिखा है। उद्धव के सम्मुख, एक विरहिणी गोपिका, किंशुक-सुमन (पलाश-पुष्प) दिखाकर, कहती है—

"डारन पै डारयो है बसन्त बजमारो बाज,
ऊधो बिरहीन के करेजन के रेजे ये।"

किसी दूसरे कवि ने भी कहा है—

ये नहीं किंशुक[1] सुमन कहि, कह सुमनन में झार।
प्रान बटोहिन के विरह, जरि बरि भये अँगार॥

* * *

१६—खिलना कम-कम कली ने सीखा है,
उनकी आँखों की नीमख़्वाबी[2] से।

अर्थात् उनकी (प्रियतम की) आँखों की नीमख़्वाबी (अलसान, मस्ती) से कली ने धीरे-धीरे खिलना सीखा है।

नोट—कली धीरे-धीरे खिलती है। अलसाई हुई आँख भी मस्ती के साथ धीरे-धीरे खुलती है। क्या शेर बाँधा है!

* * *

२०—आँखें जो खुल रही हैं मरने के बाद मेरी,
हसरत यह थी कि उनको मैं एक निगाह देखूँ।

मृत्यु के पश्चात् आँखें बन्द नहीं रहतीं, खुल जाती हैं, बस इसी भावना को लेकर मीर साहब फ़रमाते हैं कि ये आँखें जो

१—किंशुक = पलाश। २—नीमख़्वाबी = अर्द्धनिद्रित्व, अलसाई हुई होना, उनीदी आँखों का भाव।

मरने के बाद खुल रही हैं—जानते हो, इसका क्या मतलब है? बात यह है कि उनमें अभी यह हसरत—यह इच्छा—बाक़ी रह गई है कि एक बार उनको (अपने प्यारे को) और देख लें।

कितनी बढ़िया उक्ति है!

❀ ❀ ✱

२१—मर्ग एक माँदगी का वक़्फ़ा है,
यानी आगे चलेंगे दम लेकर। *

मृत्यु की भयंकरता की पोल मीर ने इस शेर में खोल दी है। जो लोग मृत्यु का रहस्य सम्यक् रूप से जानते हैं वे उसे एक मामूली चीज़ समझते हैं, उससे डरते नहीं, उसका आलिङ्गन करने को सदा उत्सुक रहते हैं। मीर कहते हैं कि मृत्यु तो थकावट के बाद का विश्राम है। जैसे मनुष्य रास्ता चलते-चलते थक जाता है, तो थोड़ा विश्राम लेता है, उसी प्रकार संसार के कर्ममय क्षेत्र में चलते-चलते जब जीव थक जाता है तो उसे थोड़ा सुस्ताने—दम लेने की आवश्यकता पड़ती है; मृत्यु वही विश्राम है।

✱ ❀ ❀

---

* उर्दू के प्रसिद्ध नाट्यकार स्व० 'हश्र' ने एक जगह कितना अच्छा लिखा है :—

जब से सुना है मरने का नाम जिन्दगी है,
सर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूँढ़ते हैं।

'मरने का नाम जिन्दगी है' कहकर कवि ने कमाल किया है। जीवन-मरण का वहिर्द्वन्द्व और अन्तर्साम्य 'मरने' और 'जिन्दगी' दो शब्दों ने प्रत्यक्ष कर दिया है।

२२—कहाँ आते मयस्सर[1] तुझसे मुझको खुदनुमा[2] इतने
हुआ यों इत्तिफ़ाक़[3] आईना तेरे रूबरू[4] टूटा।

आईना अथवा शीशा, उर्दू-साहित्य में, दिल का उपनाम है। मीर कहते हैं कि तुझसे इतने खुदनुमा (अपने-आपको देखनेवाले, अहङ्कारी, अभिमानी) मुझे कहाँ दिखाई पड़ते, यदि संयोगवश तेरे सामने आईना न टूट जाता ?

आईना के कई टुकड़े हो जाने से तू कई जगह दिखाई पड़ने लगा।

* * *

२३—फ़लक[5] ने पीसकर सुरमा बनाया,
नज़र में उसकी मैं तो भी न आया।

मीर साहब फरमाते हैं कि 'ज़रा मेरी बदकिस्मती तो देखिये कि आकाश ने अत्याचार करते-करते—पीस-पीसकर—सुरमा बना डाला, किन्तु तो भी मैं उसकी आँखों में न आ सका।

शेर का भावार्थ यह है कि मैंने उसके सब अत्याचार सहे, उसके लिये दुख उठाये, अनेकानेक प्रकार की कठिनाइयाँ झेलीं, तो भी उसकी समझ में न आया कि मैं उसका सच्चा प्रेमी और शुभचिन्तक हूँ। इतना होने पर भी वह हमारा हृदय देख न सका। दुर्भाग्य !

* * *

२४—आदमी अब नहीं जहाँ में 'मीर'
उठ गये इस भी कारवाँ से लोग।

१—मयस्सर = लभ्य। २—खुदनुमा = अभिमानी, अहंकारी। ३—इत्तिफ़ाक़ = संयोग। ४—रूबरू = सम्मुख, प्रत्यक्ष। ५—फ़लक = आकाश।

– प्रियतम की अमानुषिक निष्ठुरता देखते-देखते, बेचारा मीर एकदम निराश हो गया है। अब उसे मनुष्यता पर भी सन्देह हो चला। वह निराशा और वेदना-भरे स्वर में कहता है –'जान पड़ता है कि अब संसार में मनुष्य नहीं रह गये।'

प्यारे की कठोरता ने उसे मनुष्यता पर ही सन्देह करा दिया है!

❀ ❀ ❀

२५—सूखते ही आँसुओं के नूर[1] आँखों का गया,
बुझ ही जाते हैं दिये जिस वक्त़ सब रोगन[2] जला।

आँसुओं के सूखते ही आँखों का प्रकाश दूर हो गया। जब तेल सूख जाता है तो दीपक बुझ ही जाते हैं।

❀ ❀ *

२६—तड़प के ख़िरमने[3] गुल पर कभी गिर ए बिजली!
जलाना क्या है मेरे आशियाँ[4] के ख़ारों[5] का।

ऐ बिजली! तड़पकर कभी पुष्प-समूह पर गिर, भला हम ग़रीबों के नीड तृण-समूह को जलाने से तुझे क्या लाभ अथवा सन्तोष होगा?

❀ ❀ *

२७—था जी में उससे मिलिए तो क्या क्या न कहिए मीर,
पर कुछ कहा गया न ग़मे दिल यह मुझसे हाय!

अपने प्रियतम की निष्ठुरता को याद कर-करके प्रेमी सोचता

१—नूर = प्रकाश। २—रोगन = घी, तेल। ३—ख़िरमन = खलियान, समूह। ४—आशियाँ = नीड, खोंता। ५—ख़ार = काँटा, घास-फूस।

है कि इस बार वह मिलेंगे तो उनसे सब पूछूँगा, जवाब तलब करूँगा, पर मिलने पर प्यारे के सामने आते ही सब कुछ भूल जाता है। उस समय बिजली के समान न जाने कौन-सी चीज़ सब विचारों को, सब भावनाओं को, क्षण-मात्र में बदल देती है। इतना आकर्षण होता है कि हृदय, शिकायत करने की प्रतीक्षा (विलम्ब से आशय है) को सह नहीं सकता, सब कुछ भूलकर उसी के चरणों में आत्म-समर्पण कर बैठता है। वह वेबसी भी अनुभव करने की चीज़ है। उसमें जो मज़ा है, जो आनन्द है, वह दूसरी जगह कम मिलेगा। न जाने क्या बात है कि उस समय कुछ सोचने, समझने अथवा तर्क करने का अवसर ही नहीं मिलता - सारा मान, सारा क्रोध सामने जाते ही विलीन हो जाता है। उत्कंठा—बोलने की, आलिंगन करने की, चुम्बन करने की और न जाने किस-किस चीज़ की उत्कंठा मिलकर उसे धर दबाती है। उसमें भी क्या मज़ा है! क्या आनन्द है!!

उस समय 'मान' की जो दुर्दशा होती है, उसे स्व० 'हश्र' ने एक शेर में भली भाँति चित्रित किया है—

जी में था ऐ हश्र ! उससे अब न बोलेंगे कभी,
बेवफ़ा जब सामने आया तो प्यार आही गया।

उसकी निष्ठुरता की याद दिलाकर दिल को ख़ूब समझाया था, सुग्गे की तरह भली भाँति रटा दिया था। दिल में ख़ूब पक्का कर लिया था कि चाहे जो कुछ हो जाय, अब उससे कभी न बोलेंगे। परन्तु हाय! सब सोचना-समझना, सारी दृढ़प्रतिज्ञता, सारा निश्चय मिट्टी में मिल गया; सम्पूर्ण मान, क्रोध, क्षोभ हवा हो गया। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना होने में ज़रा भी देर न लगी; ज्योंही वह सामने आये, ज्योंही वह दिखाई

पड़े त्योंही, क्रोध दिखाने और शिकायत करने को कौन कहे, उलटे उनपर प्यार आ गया, एकाएक जमा हुआ पैर फिसल पड़ा और मुँह के बल जा गिरे !

प्रेम का आकर्षण ऐसा ही शक्तिसम्पन्न है। लाख प्रतिज्ञा कीजिये, किन्तु रणस्थल में (जब नैन-बाणों की वर्षा होने लगती है तो) सब कुछ भूल जाता है। उस समय न तो विद्वत्ता काम देती है, न तर्क। न बल दिखाई पड़ता है, न बुद्धि। सब दूर भागते हैं।

'मीर' का भी यही अनुभव है। यद्यपि वे अपने भावों को भली भाँति चित्रित नहीं कर सके हैं, जो कुछ कहना चाहते थे उसे कह नहीं सके है—और उसे कोई कह भी नहीं सकता —तो भी उनका आशय अनुभवी, सहृदय और प्रेमी पुरुषों को सहज ही समझ में आ जाता है।

मीर साहब का कथन है कि मिलने पर उनसे कहने के लिये न जाने क्या-क्या सोचा था, पर मिलने पर कुछ भी कहते न बना। हाय री मेरी बेबसी !

* * *

२८—*काम पल में मेरा तमाम किया,*
ग़रज़ उस शोख़ ने भी काम किया।

उसने एक क्षण में मेरा काम तमाम कर डाला, यह भी उसने एक काम किया।

इस शेर में केवल शब्दों की ही बहार है। 'काम तमाम किया'—(मार डाला, नष्ट कर दिया) और 'काम किया'— इन्हीं दो वाक्यों पर सारा सौष्ठव निर्भर है।

* * *

२६—पूछा जो मैंने दर्दे मुहब्बत से मीर को,
रख हाथ उसने दिल पै टुक एक अपने रो दिया।

मैंने जो मीर से सहानुभूति के कारण उसका हाल पूछा तो अपने कलेजे पर हाथ रखकर रो दिया।

आह ! कितना अच्छा चित्र है। मीर के हृदय में इतनी वेदना थी कि उसके मुँह से शब्द निकल ही न सके। पीड़ा की असीमता के कारण—वेदना के अतिशय आधिक्य से—उसने एक हाथ अपने कलेजे पर रख दिया किन्तु, हाय ! फिर भी आँखों से आँसू निकल ही आये।

कितना बढ़िया शेर है। अपनी आन्तरिक वेदना को 'मीर' ने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया है। इस शेर के लिये यदि कहें कि—"कागज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल के" तो अतिशयोक्ति न होगी।

* * *

३०—बेख़म्र ज़मीं दिलकी है 'मीर' मुल्क अपनी,
पर दाग़[1] सीना मुहरी फ़रमान[2] है हमारा।

दिल की जमीन को अपना मुल्क क़रार दिया है और सीने के दाग़ को फरमान (आज्ञा-पत्र) की मुहर कहा है !

* * *

३१—होश जाता नहीं रहा लेकिन,
जब वह आता है तब नहीं आता।

कितना उम्दा शेर है। अनुभव भरा पड़ा है। वेदना एक-एक शब्द से छलकी पड़ती है। प्रेमी का अखण्ड प्रेम और कुचला हुआ दिल इसमें कराह रहा है। शेर के अन्तर्भाग में घुसकर

१—दाग=धब्बा, कालिमा। २—फ़रमान=आज्ञा पत्र।

उसकी वास्तविकता देखनेवालों को मालूम होगा कि 'मीर' शायर नहीं है, प्रेमी है; बुद्धिमान् और सूक्तिकार पण्डित नहीं है—कोरा 'लेक्चरर' नहीं है,—वह कुछ और है। वह कहने लगता है कुछ, और कह जाता है कुछ; वह पाठकों को अपनी हालत बतलाने चलता है, पर कहना आरम्भ करते ही रोने, चीख़ने और चिल्लाने लगता है। उसका होश-हवास ठीक नहीं है; वह उस आदमी की भाँति है जो कभी कुछ हँसना चाहता है तो उसको रुलाई आ जाती है। वह बुद्धिमानों का नहीं, पागलों का है, क्योंकि वह स्वयं दीवाना है, वह स्वयं पागल है। उसे अपने पागलपन से इतनी छुट्टी नहीं कि वह और शायरों की तरह इतना भी कहे कि "मैं पागल हूँ"। जीवन-भर में वह कभी हँसा नहीं, पर इससे क्या? उसके इस रोने ही में सब कुछ है,—देवत्व है, सुख है और हँसी भी है। आनन्द ही आनन्द है, पर ऊपर से नहीं, अन्दर से, क्योंकि वह बनावटी नहीं है, वह सच्चा पागल है। यह ऐसे ही लोगों की 'बेवक़ूफ़ी', दीवानगी है, जो कह गये हैं—

"There is a pleasure sure,
In being mad,
Which none but mad men know."

(अर्थात् 'पागल होने में निश्चय एक सुख है, जिसे केवल पागल ही जानता है'।)

मीर—दीवाना—मीर—अपने निठुर प्रियतम की कठोर भावनाओं से पीड़ित मीर—रोता है। उसके रोदन से एक विकम्पित रागिनी बह रही है—'रोओ, रोओ, रोना ही हमारा धर्म है।'

वह कहता है—"मैं अभी एकदम चेतनारहित नहीं हुआ हूँ, मेरे होश-हवास सब दुरुस्त हैं; पर—हाय! जब वह आते हैं तब मैं (उन्हें देखते ही) एकदम चेतनारहित हो जाता हूँ।"

इसका कारण? दो कारण हो सकते हैं—एक तो उसकी निष्ठुरता की याद आने के कारण बेहोशी आ जाती है, और दूसरे, प्रियतम को देखते ही सारी चेतना उनका इस प्रकार आलिगन कर लेती है कि सारी शक्तियाँ, उसी में लय हो जाती हैं, एकात्म्य-सा—सान्निध्य कहिये—हो जाता है। ज्ञान-शक्ति ठीक उसी प्रकार लुप्त हो जाती है, जैसे ऊपर से देखने में उस आदमी की हालत होती है जो समाधिस्थ हो ब्रह्म की अखण्ड सत्ता से तादात्म्य-लाभ करके अनन्त आनन्द में लीन हो जाता है। उस समय वहिर्जगत् के लिये वह एकदम जड़ हो जाता है।

* * *

३२—दिल से रुख़सतें[1] हुई कोई ख़ाहिश[2],
गिरिया[3] कुछ बेसबब[4] नहीं आता।

मीर साहब अपने ही में तर्क-वितर्क करते हैं कि यह जो आह निकली है तो हो-न-हो जरूर कोई ख़ाहिश दिल से दूर हुई है; क्योंकि आह अकारण तो निकलती ही नहीं।

मीर का एक-एक शेर उसके हृदय का प्रतिबिम्ब है—चित्र है। वह बनावटी कवि—कोरा बकवादी नहीं है। वह शायरी नहीं करता। पागलों की भाँति जो दिल में आया, बक दिया करता

१—रुख़सत = बिदा। २—ख़ाहिश = इच्छा। ३—गिरिया = आह, चीख़। ४—बेसबब = अकारण।

है। दूसरे लोग उसमें अपनी दृष्टि से—उसकी स्वाभाविकता का विचार न करके, उसकी स्थिति का अनुभव न करके—छानबीन करते हैं, रत्नों की खोज करते हैं।

*   *   *

३३—सर मार कर हुआ था मैं ख़ाक इस गली में,
सीने पै मुझको उसका मज़कूर नक्शेपा था।

मीर साहब फरमाते हैं कि मैं सर धुन-धुनकर इस (प्रियतम की) गली में इसी लिये धूल में मिल गया था कि जब मेरे प्राणेश इधर से निकलेंगे तो मेरी छाती पर उनके कमलोपम चरणों का चिह्न अंकित हो जायगा और इस प्रकार मैं सफलकाम हो जाऊँगा.................!"

मीर ने इतना ही कहकर छोड़ दिया है। छोड़ क्या दिया, असल बात तो यह है कि इतना कहते-कहते बेचारे को रुलाई आ गई, अपने दुर्भाग्य पर आँसुओं का तार लग गया और ज़माने के हाथों सताया हुआ ग़रीब अपना दुखड़ा कह न सका, गले तक आकर बात अटक गई। शोकावेग का आक्रमण इतनी शीघ्रता से और इतनी भयंकर रूप में हुआ कि बात खतम करने के पहले ही उसका कलेजा दुखने लगा। हाय! ग़रीब का भाग्य ही तो है!

*उसके शेर का तात्पर्य और हृदयस्थित वेदना का भली भाँति अनुमान करने के लिये निम्नलिखित अंश और मिलाइये :—

"....पर, हाय री मेरी किस्मत! मेरी यह इच्छा भी

---

*शेर के 'सर मार कर हुआ था' शब्दों की आन्तरिक परीक्षा करने से मेरी बात समझ में आवेगी।

पूरी न हुई। उनको जब मालूम हुआ कि मेरी खाक भी उनकी गली की धूल में मिल गई है तो उन्होंने अपना रास्ता ही बदल दिया। इतनी मिहनत, इतना प्रयत्न करके भी अभागे की इच्छा पूरी न हुई। सर पटक-पटककर धूल बनाया, इन्सान से अपनेको तकलीफ़ दे-देकर जड़ रूप में परिवर्तित हुआ, तब भी, इतने पर भी, मेरी इच्छा—अपनी छाती पर प्रियतम के पदस्पर्श की—पूरी न हुई। ऐसी क़िस्मत !"

मीर ने इस शेर में अपने निराशामय जीवन और असफलता-सूचक दुर्भाग्य-नृत्य का चित्र खींचा है। उनकी चुप्पी ने ग़जब का काम किया है। यदि वह पिछला भाग कहने का प्रयत्न करते, तो अवश्य हास्यास्पद होते; पर वैसा न होने के कारण इसमें कई गुनी वेदना अधिक बढ़ गई है।

अब, इस शेर के दूसरे पहलू पर विचार कीजिये। एक निराश प्रेमी की इससे ऊँची और व्यावहारिक और क्या इच्छा हो सकती है, जो मीर की है। बड़ी-बड़ी डींग मारनेवाले प्रेमियों को मैंने देखा है कि पहले तो उनका प्रेम जीवनव्यापी होता ही नहीं और यदि होता भी है तो जहाँ मीर की हालत में पड़ गये (अर्थात् प्रियतम निष्ठुर निकला), फिर वे निराश होने पर ज्यादा-से-ज्यादा यह इच्छा करते हैं कि "हे परमात्मन्! हमें इस रास्ते से हटाओ, अथवा फिर कभी ऐसा दुख मुझे भोगना न पड़े—ऐसी कृपा करो।" परन्तु मीर उन प्रेमियों में नहीं है, वह तो उन लोगों की पंक्ति में है जो हृदयेश के लिये परमात्मा और मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं।

कितनी ऊँची कामना है। कैसी तल्लीनता उस व्यक्ति के प्रेम में होगी जो जीवन-भर कभी हँसा नहीं; एक दिन के लिये उसके

प्रियतम ने उसे प्यारभरे स्वर में नहीं पुकारा; पर वह उसके चरणों को स्पर्श करने के लिये (जब उसने देखा कि मानव-योनि में असंभव है) सर पटक पटककर—शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देकर—धूल बनकर उसकी गली में जा मिला! हाय!

और दूसरा भाग कितना करुणात्मक है! पढ़कर रोएँ खड़े हो जाते हैं! दुनिया से विरक्ति-सी हो जाती है, मनुष्यता सिहर उठती है। ऐसा भी आदमी का भाग्य होता है? हाय री मनुष्यते! तू अपने परम प्रेमी के साथ इतनी पशुता भी कर सकती है?

३४—मैं वह रोने वाला जहाँ[1] से चला हूँ,
जिसे अब्र[2] हर साल रोता रहेगा।

रोते-रोते, दुख सहते-सहते, बेचारे को अपने जीवन पर ही अविश्वास हो चला है—(घृणा नहीं, अविश्वास—घृणा तो कायरता है)। उसे विश्वास-सा हो गया है कि अब मैं ज्यादा दिन नहीं बचूँगा, अब 'राहे अदम' की तैयारी है। वह कहता है:—"मेरे दुःख में सहानुभूति प्रकट करनेवाले मेरे मित्रो! मैं रोनेवाला अब चला; परन्तु घबराना नहीं, मेरे रुदन की स्मृति को ये 'सरस-हृदय' बादल अनन्त काल तक बनाये रखेंगे। मैं वह रोनेवाला यहाँ से जा रहा हूँ जिसे प्रतिवर्ष याद कर-करके बादल आँसू बहाते रहेंगे।

* * *

३५—मुत्तसिल[3] रोते ही रहें तो बुझे आतिश[4] दिल की,
एक दो आँसू तो और आग लगा जाते हैं!

१—जहाँ=दुनिया, संसार। २—अब्र=बारिद, बादल। ३—मुत्तसिल=लगातार, निरन्तर। ४—आतिश=अग्नि।

मीर साहब फरमाते हैं कि ये आँखें अगर लगातार रोती ही रहें तो दिल की जलन कुछ बुझे भी, यहाँ तो थोड़ी देर आँसू बहाकर ये चुप हो जाती हैं। इन दो बूँद आँसुओं से भला हृदय की प्रज्वलित अग्नि कैसे बुझ सकती है, इससे तो आग और भभक उठती है!

क्या करे? अभागे मीर की इस इच्छा का 'बायकाट' तो प्रकृति ने ही कर दिया है। हृदय की जलन से जब कभी रुलाई आती है तो थोड़ा रोने के बाद फिर न जाने क्यों आँसुओं का तार टूट जाता है, हृदय में अग्नि और रोने की इच्छा रहते हुए भी आँसू नहीं निकलते। यदि दो-चार, दस-बीस दिन तक बराबर अश्रु-धारा चलती रहे तो संभव है कि अग्नि बुझे भी। हृदय की उस प्रलयंकरी अग्नि को बुझाने के लिये तो मूसलधार वर्षा अथवा विशाल 'फ़ायर ब्रिगेड' की ज़रूरत है, भला ये दो बूँद आँसू क्या करेंगे?

❀ ❀ ❀

२६—मर कर भी हाथ आवे तो 'मीर' मुफ्त है वह,
जी की ज़ियान[1] को भी हम सूद[2] जानते हैं।

मीर कहते हैं कि यदि वह मरकर भी—जान दे देने से भी मुझे मिल जाय तो, एक प्रकार से मैं समझूँगा कि मुझे मुफ्त ही मिला। प्राण-हानि को मैं सूद समझता हूँ।

वाह्य जगत् में साधारणतः प्राण से अधिक मूल्यवान् वस्तु कोई नहीं है। भाई-भाई में शत्रुता, बाप-बेटे में झगड़ा, इसी के लिये होता है। सारी चोरी-डकैती, मार-काट, इसी की रक्षा के लिये होती है, पर प्रेम-संसार में उस प्राण का क्या मूल्य है,

---

१—ज़ियान = हानि। २—सूद = ब्याज।

आप जानते हैं ? यदि न जानते हों तो मीर का उपर्युक्त शेर मुलाहज़ा फ़रमाइये। वह पागल 'जी की जियान को सूद जानता' है। वह अपने प्यारे के सम्मुख प्राण को कितना तुच्छ समझता है! उसका हृदयेश्वर यदि (थोड़ी देर के लिये मान लीजिये) दश कोटि रुपये का है तो प्राण सौ-दो-सौ रुपयों का। समझिये, उस मनुष्य का अपने प्यारे पर कितना अधिक प्रेम होगा जो उसके लिये अपने प्राणों को उत्सर्ग ही नहीं करता, वरन् उसके समक्ष उसका कुछ मूल्य ही नहीं समझता। अपने प्रेमपात्र के लिये उस आदमी के हृदय में कितना ऊँचा स्थान होगा, कितनी श्रद्धा होगी, जो संसार की सबसे मूल्यवान् वस्तु का कुछ मूल्य ही अनुभव नहीं करता।

❁ ❁ ❁

३७—सरसरी तुम जहान[1] से गुज़रे,
वर्ना[2] हरजा जहान दीगर[3] था।

तुम संसार को शीघ्रता में देखते गये, वर्ना यदि ख़ूब समझ-बूझकर धीरे-धीरे मुलाहज़ा करते तो मालूम हो जाता कि पग-पग पर दूसरा संसार है।

मनुष्य की स्थिति में, रूप में, आकार में, परिमाण में क्षण-क्षण परिवर्तन हुआ करता है; किन्तु मनुष्य इस सूक्ष्म परिवर्तन का अनुभव प्रतिक्षण नहीं करता (उसमें इतनी शक्ति ही नहीं है या यों कहिये कि उसकी शक्तियाँ इतनी विकसित नहीं हुई हैं), वरन् बरसों बाद ठीक उसी प्रकार करता है जैसे स्वप्न की भीषणता अथवा उसके आन्तरिक रहस्य का अनुभव मनुष्य एकाएक

१—जहान=संसार। २—वर्ना=अन्यथा। ३—दीगर=दूसरा।

नींद टूट जाने पर करता है। नींद टटूने के बाद हो 'मीर' के मुँह से यह आवाज़ सुन पड़ी है।

❀ ❀ ❀

३८—किया जो अर्ज़ कि दिल-सा शिकार लाया हूँ ;
कहा कि ऐसे तो मैं मुफ़्त मार लाया हूँ।

बदक़िस्मत मीर बड़ी आशा से अपना दिल लेकर सरकारी दरबार में नज़र करने गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर बड़ी आरजू-मिन्नत और दीनता दिखाकर कहा कि सरकार! मैं आफत का मारा, आपकी नज़रों का घायल, एक ग़रीब आदमी हूँ। मेरे पास इस दिल के सिवा और कुछ नहीं है, अतएव सरकार की मेरे ऊपर बड़ी मिहरबानी हो जो इसे आप अपनी ख़िदमत में मंजूर कर लें। पर वहाँ 'मीर' से बद-किस्मतों को पूछता कौन है? जवाब मिला तो; पर बड़ी नाज़ो-अदा के साथ। हुजूर ने फरमाया—"भिखमंगे! तू मेरे पास क्या मामूली चीज़ लेकर आया, ऐसे न जाने कितने शिकार तो मैं योंही मुफ्त में, बिना किसी परिश्रम के, मार लाया करता हूँ, और तू इसे मेरे पास बेचने के इरादे से आया है? मुझे जब ऐसी-ऐसी चीजें मुफ्त ही मिला करती हैं तो तेरी चीज खरीदने क्यों लगा? मुझे कमी ही क्या है। न जाने कितने मेरे यहाँ मारे हुए (शिकार किये हुए) पड़े हैं?"

शेर के दूसरे पद में—जो कि शाहाना जवाब है—कितनी शोख़ी है, कितना चुलबुलापन है। सीधे-सादे शब्दों में अपना त्याग, अपने दिल की चोट का उल्लेख—सब कुछ कवि ने कर दिया है। 'दिल-सा शिकार' कहकर यह भी जता दिया कि मेरा दिल किसी के बाणों से घायल भी हो चुका है (क्योंकि

बिना घायल हुए शिकार हुआ कैसे ?), और 'दिल-सा शिकार लाया हूँ' कहकर यह भी बताया कि मैं तुम्हीं को इसकी योग्यता का समझता हूँ, तुम्हीं इसको लो (प्रकारान्तर से यह अर्थ हुआ कि मैं तुम पर मोहित हूँ)। इसके बाद प्रियतम के मुँह से 'ऐसे तो मैं मुफ़्त मार लाया हूँ' कहलाकर उनकी निष्ठुरता और परिहास-भरी शोख़ी का चित्र भी खींच दिया है। वाह !

* * *

३६—हम सरकशी[1] से मुद्दतों मसजिद से बच बच कर चले,
अब सिजदे ही में गुज़रे है क़द जो हुआ मेहराब सा।

मीर साहब फ़रमाते हैं कि हम मुद्दतों मसजिद से बच-बच-कर, उससे जी चुराकर (बुतपरस्ती में—सौन्दर्योपासना में—) अपना समय काटते रहे, किन्तु परमात्मा की इच्छा—'मेरे जिय कछु और है, कर्ता के कछु और' वाली बात हुई। चाहता मैं कुछ था, और हो गया कुछ दूसरा। कहाँ तो मैं बुतपरस्ती के लिये मसजिद से भागा-भागा फिरता था और कहाँ अब सारा समय (झुककर) सिजदा करने ही में गुज़रता है (क्योंकि क़द ही मेहराब-सा हो गया है)

मीर ने इस शेर में अपनी वृद्धावस्था का चित्र अंकित किया है। उनका कहना है कि मुद्दतों तक मैं मसजिद से बचकर भागता रहा, उसी सरकशी का फल यह है कि अब (कमर झुक जाने से) मेहराब के समान क़द हो गया है और हमेशा (झुककर) सिजदा करना पड़ता है।

१—सरकशी = सर उठाना, किसी की आज्ञा का उल्लंघन।

नोट—मसजिद में जहाँ सीढ़ियाँ होती हैं, अथवा जहाँ नमाज़ पढ़ी जाती है, वहाँ मेहराब बना रहता है, वहाँ लोग झुक-झुककर सिजदा करते हैं, वे ही सारी बातें अपने शारीरिक संसार में मीर ने दिखाने की चेष्टा की है।

*　　　*　　　*

४०—मीर अफ़सोस वह कि जो कोई,
उसके दरवाज़े का गदा[1] न हुआ।

ऐ मीर ! उसकी ज़िन्दगी पर अफसोस है, जो उसके (प्रियतम अथवा परमात्मा के) दरवाज़े का भिक्षुक न हुआ !

परमात्मा के प्रति, मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करने के लिये मीर ने हमलोगों को यह चेतावनी दी है। यदि मनुष्य का सुदुर्लभ जन्म पाकर भी परमात्म-चिन्तन में अपना मन न लगाया, सांसारिक वासनाओं को छोड़कर उस दरवाज़े का भिक्षुक न हुआ—उसकी शरण न ली—तो समझो कि जीवन व्यर्थ ही गया।

*　　　*　　　*

४१—सब्ज़ होती ही नहीं यह सरज़मीं,
तुख़्मे ख़ाहिश[2] दिल में तू बोता है क्या।

मीर साहब फरमाते हैं कि यह (दिल की) ज़मीन कभी हरी तो होती ही नहीं, फिर तू उसमें इच्छाओं का बीज क्या बोता जाता है ?

इस शेर के एक पहलू में तो मीर की आहें भरी हैं, उसका दिल छटपटा रहा है, उसकी बदनसीबी तड़प रही है; और दूसरी ओर माया-ग्रस्त जीवों के लिये उत्तम-से-उत्तम उपदेश सन्निहित है।

१—गदा=फ़क़ीर, भिक्षुक, दीन। २—तुख़्मेख़ाहिश=इच्छाओं का बीज।

पहला पहलू देखिये। हृदय की आन्तरिक अवस्था का कवि वर्णन करता है। उसको अपनी वासनाओं, अपनी उलझनों पर हँसी आती है तो वह अपने रोते हुए व्यक्तित्व को सम्बोधित कर कहता है :—"मीर ! तू भी अजीब पागल है। बार-बार देखता है कि तेरी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होतीं, कभी हृदय की जमीन तर नहीं होती, सदा मरुभूमि ही बनी रहती है, तो भी तू एक-न-एक बीज उसमें बोता ही जाता है। यद्यपि उगने की बात कौन कहे, कभी यह क्षेत्र सरसब्ज (हरा) भी नहीं होता, तो भी तू उसमें व्यर्थ ही बीज फेंकता जाता है। तू इतना सोचता है, अपने प्रियतम के प्रति तेरे हृदय में न जाने कितनी भावनाएँ बहुत काल से बनी हुई हैं; परन्तु उसकी निष्ठुरता से हो अथवा तेरे दुर्भाग्य से हो, आज तक उनमें एक इच्छा भी पूरी नहीं हुई।"

इस अभागे का भी क्या भाग्य है ! - सम्पूर्ण जीवन में भला एक बार भी तो बेचारा सुखी हुआ होता, कभी तो हँसा होता ! जिस शेर में देखो, वहीं रोना, रोना—और कुछ मानों हृदय में है ही नहीं।

अच्छा, पलटिये। आइये, अब दूसरे पहलू पर विचार करें। मनुष्य का हृदय अनन्त वासनाओं का घर है। वासनाएँ अनादि और अनन्त हैं, वे कभी समाप्त नहीं होतीं। जो लोग कहा करते हैं कि गृहत्याग के पूर्व मनुष्य को खूब भोगविलास कर लेना उचित है, उन्हें याद रखना चाहिये कि इच्छाओं—वासनाओं—का अन्त कभी नहीं होता। भोग से, वासनाओं से, निवृत्ति नहीं, उलटे प्रवृत्ति होती है। मीर भी यही कहते हैं कि कभी वासनाएँ पूर्ण-

रूपेण चरितार्थ नहीं होतीं, फिर भी तू एक-न-एक इच्छा किया ही करता है।

*　　　*　　　*

४२—मुआ जिसके लिये उसको न देखा,
न समझे 'मीर' का कुछ मुद्दआ हम।

कभी-कभी जीवन भाररूप हो जाने के कारण मनुष्य मरने के पश्चात् की बातों की कल्पना किया करता है। मेरे एक मित्र मुझसे एक बार कहते थे कि यदि मरने के बाद मैं किसी प्रकार देख सकता कि मेरे मरने से किसे-किसे दुःख होता है, कौन मेरे लिये रोता है और कौन हँसता है, तो मैं बहुत सरलतापूर्वक प्राण-विसर्जन करता।

मीर भी उसी प्रकार की बातें सोचता है। निरन्तर सोचते-सोचते वह इतना तन्मय हो जाता है कि अपनेको मरा हुआ समझने लगता है। पाठक! आप भी कल्पना कीजिये कि मीर मर गया है, पर हमारे मित्र की कामना की भाँति वह सब कुछ देख और सोच सकता है। वह बेचारा अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाता हुआ कहता है—कहता नहीं, वरन् दूसरे के द्वारा अपने बारे में कहलाता है कि—'अभागा मीर जिसके लिये मरा, उसे देख भी न सका। अपने जिस जीवनधन के लिये जीवन उत्सर्ग किया उससे बातें करने, हृदय की व्यथा कहने, आलिंगन और चुम्बन करने को कौन कहे, हाय! देख भी न सका—अपनी जीवन-मूरि को चलते समय एक बार देख भी न सका। उस अभागे पर, मरते हुए उस दीवाने पर इतना भी रहम न किया गया। हाय! ऐसा भी किसी का भाग्य हो सकता है?

"मीर के दिल में क्या इच्छा थी, यह कुछ समझ में न

आया। जिसके लिये बेचारा मरा, जिसके लिये जन्म-भर रोता रहा उसे मरते समय अन्त में एक बार देखा भी नहीं। न जाने उसका क्या लक्ष्य था!"

दूसरे लोग 'मीर' के इस मरने का उद्देश्य क्या समझेंगे? संसार! निष्ठुर संसार! तेरी हृदयहीनता ने तो तेरी आँखों पर इतना गहरा पर्दा डाल रक्खा है कि तू देवत्व में भी पशुता का नृत्य देखता है। तू क्या जानेगा कि हृदय में क्या भरा पड़ा है? तू कोरा तार्किक है। तेरी तार्किकता क्या समझ सकेगी कि मनुष्य के छोटे-से हृदय ही में अनन्त विश्व, अनन्त ब्रह्माण्ड, बँधे हुए हैं। तू क्या जानेगा कि मृत्यु का रहस्य जाननेवालों के लिये मृत्यु एक मनबहलाव की चीज है। प्रेमी के हृदय में तो अखिल विश्व का अनन्त सौन्दर्य अनन्त-अनन्त रूप से नाचा करता है। वहाँ कहाँ मृत्यु और कहाँ जीवन? यह सब तो बहिर्जगत् की कल्पनायें हैं। द्वैत भावों का विकराल ताण्डव तो इन चमड़े की आँखों के लिये है, सत्य और असत्य—ये दो भाव तो बाहरी संसार के लिये हैं, हृदय की अन्तर्दृष्टि में तो केवल सत्य हैं, वहाँ कुछ नहीं—अनन्त अन्तर तक निरतिशय सुख, अखण्ड आनन्द और अनन्त प्रेम नाचा करता है। अन्धे संसार! क्या तूने कभी उसका अनुभव किया है?

अरे मीर बेचारे के लिये तुमलोग रोओ, तुमलोगों की बाहरी नजरों में भले ही उसका जीवन दुःखमय प्रतीत हो पर उस दुःख में मीर जिस चरम शान्ति का अनुभव कर रहा है, उसको भी तो जरा अपना कलेजा चीरकर देखो! तुम यह तो देखते हो कि मीर मर रहा है, पर यह क्यों नहीं देखते कि उस मृत्यु के अन्तरतल में भी कुछ है या नहीं? उसे तो मृत्यु का जरा भी

कष्ट नहीं, वरन् सुख है इस बात का कि वह जन्म-भर जिस चीज़ के-लिये रोता रहा, मरता भी उसी के लिये है। उसे कष्ट का अनुभव नहीं, अपने आत्मोत्सर्ग का सन्तोष है।

* * *

४३—लिखते रुक्क़ा लिख गये दफ़्तर,
शौक़ ने बात क्या बढ़ाई है।

कोई वियोगी जब कभी अपने प्यारे को पत्र लिखने बैठता है तो प्रायः यह होता है कि लिखना चाहता है कुछ, और लिख जाता है कुछ दूसरा। थोड़े में खतम करना चाहता है, पर पेज-के-पेज सियाह होते जाते हैं। वह पत्र लिखने में इतना तादात्म्य-लाभ करता है कि उतने समय के लिये वह सब कुछ भूल जाता है, उसे यह भी ख़याल नहीं रहता कि मैंने किस उद्देश्य और किन बातों को लिखने के लिये पत्र आरंभ किया था। जब हृदय में भावनाओं की लहर उठती है, तो मनुष्य हजार रोकने की इच्छा रखते हुए भी उसे रोक नहीं सकता।

मीर भी कहते हैं—"वाह रे शौक! तूने बातें इतनी बढ़ा दीं कि लिखना चाहते थे रुक्क़ा और लिख गये दफ़्तर!"

* * *

४४—चला न उठके वहीं चुपके चुपके फिर तू 'मीर',
अभी तो उसकी गली से पुकार लाया हूँ।

मीर साहब फरमाते हैं :—अभी-अभी मैं तुझे उनकी गली से पुकार लाया हूँ, किन्तु फिर तू उठके वहीं चुपके-चुपके चला?

जब प्रेम, प्रणय के रूप में परिवर्तित हो जाता है; जब प्रेमी, प्रियतम के साथ अधिक सान्निध्य अनुभव करने लगता है, तो

प्रत्येक क्षण ध्यान उसी की ओर लगा रहता है। इसका कारण यह है कि प्रेमी स्वतः एक क्षण के लिये भी वियोग की इच्छा नहीं करता और इस दृष्टि से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि प्रणय-भूत प्रेमी कभी वियोगी नहीं होता। वस्तुतः मनुष्य वहाँ नहीं रहता, जहाँ उसका शरीर रहता है (क्योंकि चेतना शरीर से पृथक् एक अखंड पदार्थ है और उसका शरीर से कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं है), वरन् वहाँ रहता है जहाँ उसके विचार रहते हैं। प्रगाढ़ प्रेम में अपने प्रियतम के ध्यान के अतिरिक्त और कुछ विचारने की कल्पना-मात्र करने से कष्ट होता है। कितना ही यत्न करें, किन्तु मन बरबस उधर ही दौड़ जाता है। मीर भी वही कहते हैं कि 'मन! अभी क्षण-भर भी नहीं हुआ कि तुझे उनकी (प्यारे की) गली से पुकार लाया हूँ, पर आते देर नहीं और तू फिर धीरे-धीरे उधर ही चला?

मीर! क्यों उस बेचारे को वियोग सहने पर बाध्य करते हो, उसको जाने दो। वह तो पागल है। कहीं दूसरी जगह तो जाता नहीं, 'तुम्हारे ही किसी' के पास जाता है न?

*　　　*　　　*

४५—तेरी आह किससे ख़बर पाइये,
वही बेख़बर है जो आगाह है।

मीर साहब फ़रमाते हैं कि आह! तेरा समाचार और पता किससे पूछूँ, जो तुझसे आगाह है, परिचित है—तेरा पता जान चुका है—वही बेख़बर ह।

मीर के इस शेर में भी परमात्मा के प्रति एकात्म्य लाभ करने की बात कही गई है।

जब ज्ञान की सीमा का अतिक्रमण करके अथवा भक्ति की पराकाष्ठा से मनुष्य की सत्ता उस अनन्त सत्ता में मिल जाती है तो फिर मनुष्य और परमात्मा में भेद कहाँ? फिर तो वहाँ अखण्ड अभिन्नता है। गंगा की पवित्र-धारा में जब नाले का पानी आकर मिल जाता है तब तो वह सारा जल गंगोदक ही हो जाता है—'आइ मिलै जब गंग में सब गंगोदक होय'—वहाँ भेद नहीं, अभेद-भाव है। ज्ञानमुक्त होने पर, परमात्मा की अखण्ड और अनन्त सत्ता से अभिन्नता प्राप्त कर लेने पर, उसको जान लेने पर, ज्ञाता बतायेगा ही क्या, जब उसकी स्वतंत्र सत्ता ही न रह जायगी अथवा वह स्वयं 'ज्ञेय' की सत्ता से एकात्म्य कर लेगा। साधक की साधना का अन्त तो तभी होता है जब वह केवल सिद्धि ही प्राप्त न कर ले, वरन् स्वयं ही सिद्धि हो जाय। विधेय का आदर्श तो उद्देश्य से अभिन्नता प्राप्त कर लेना है।

मीर भी वही कहते हैं जो ऊपर लिखा गया है। 'अगर पाया पता अपना न पाया' वाली बात इस शेर में दुहराई गई है। जो उसकी (परमात्मा की) सत्ता से पूर्णरूपेण आगाह हो गया, फिर उसे आवश्यकता क्या? वह तो बेख़बर हो ही जायगा। संसार के लिये तो फिर वह एक पागल से ज्यादा उपयोगी नहीं। वह तो संसार का नहीं—दूसरी दुनिया का है। भला पागल आदमी हम 'बुद्धिमानों' को क्या समझायगा? जिसे उस अखण्ड तत्व का पता लग जाता है, उसकी दृष्टि में संसार अपने ही रूप में दिखाई देता है, अतएव उसे दूसरों को समझाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती—दूसरे वहाँ कौन? उसकी सारी शक्ति का सार एक सूक्ष्म और अखंड

अवस्था में होकर उसे दूसरों की दृष्टि में मूक और अन्धा बना देता है। जो उस अन्तिम तत्त्व को पा जाता है—अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिये कि उसमें मिल जाता है—वह (दूसरों की दृष्टि में) बोल नहीं सकता, चल नहीं सकता, सोच नहीं सकता; क्योंकि वहाँ तो 'अहम्भाव' का सर्वथा विनाश हो जाता है, उस समय 'आत्मवत् सर्वभूतेभ्यो' वाली बात हो जाती है। व्यापक प्रेम उमड़कर स्वयं उस मनुष्य ही को बहा ले जाता है और अन्त में विलीन कर देता है। उस समय परमात्मा अपने से भिन्न नहीं रहता, वह स्वयं ही परमात्मा हो जाता है। उस समय वह 'सोऽहं', 'शिवोऽहं', 'सर्वोऽहम्', 'अहंब्रह्मास्मि' चिल्ला उठता है।

थोड़े दिन हुए मैंने रवीन्द्र बाबू की "Kabira's Poems" नामक पुस्तक में (जो कबीर के चुने हुए दार्शनिक पदों का पद्य-मय अंग्रेज़ी अनुवाद है) कबीर के एक पद का अनुवाद पढ़ा था। उसका आशय है—"मेरे सामने कोटि-कोटि कृष्ण बाँसुरी बजा-बजाकर नाचा करते हैं, सैकड़ों शिव भिक्षा माँगने आते हैं, चारों ओर शतशत कमलयोनि वेद-पाठ करते हैं और ईसा-मुहम्मद आदि खड़े हुए मेरी आराधना करते हैं।" वेदान्त का यह सिद्धान्त विश्व के सभी श्रेष्ठ धर्मों में पाया जाता है। मन्सूर का 'अनलहक़' इसका साक्षी है। और क्या, फ़ारसी के एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने कहा है—

तनहास्तम तनहास्तम चे बुल अजब तनहास्तम
जुज़ मन न बाशद हेच शै तन्हास्तम यकतास्तम ॥

वेदान्त का अखड ज्ञान इस शेर में भरा हुआ है। थोड़े में

शेर का आशय है— "मैं अकेला हूँ, मैं ! क्या आश्चर्य ! मैं एकदम अकेला हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं— मैं अकेला, बेजोड़, लासानी हूँ।"

किसी उर्दू-कवि ने तो और भी कुछ कहा है—

मैंने माना दह्र को हक़ ने किया पैदा वले,
मैं वह ख़ालिक हूँ मेरे कुन से ख़ुदा पैदा हुआ।

अर्थात् "यदि मैं यह मान भी लूँ कि सृष्टि की रचना ईश्वर (यहाँ सगुण ब्रह्म से आशय है) के द्वारा हुई तो मैं वह हूँ कि मेरे 'कर' शब्द के उच्चारण-मात्र से उस ईश्वर की उत्पत्ति हुई है ?"

यही 'अहं ब्रह्मास्मि' का रहस्य है।

* * *

४६—उपर्युक्त शेर का 'उपसंहार' समझकर इस शेर को भी पढ़ डालिये—

सरापा[1] में उसके नज़र करके तुम,
जहाँ देखो अल्लाह अल्लाह है।

किसी मनुष्य को यदि हम भगवान् मान लें—ऐसा नहीं, वरन् हमारा यह दृढ़ विश्वास हो ही जाय कि यही भगवान् है—तो हम अधिक शीघ्र मुक्त हो सकते हैं। प्रेम का सिद्धान्त और वास्तविक उद्देश्य भी बहुत कुछ यही है। मीर भी उसी रूप में अपने प्रियतम को मानकर कहते हैं कि एक बार तुम उसको सिर से पैर तक देख जाओ, फिर संसार के कण-कण में परमाणु-परमाणु में, तुम परमात्मा को देखोगे।

१—सरापा = सर से पैर तक; शिखनख।

*　　*　　*　　*

४७—शहादतगाह[1] है बाग़े ज़माना,
कि हर गुल इसमें एक ख़ूनी कफ़न है।

मीरसाहब फ़रमाते हैं कि यह संसारोद्यान एक शहादतगाह है, क्योंकि मैं देखता हूँ कि इसका प्रत्येक गुल एक ख़ूनी कफ़न है।

यह शेर शृंगारपूर्ण है। जहाँ संसार को वाटिका कहते हैं, वहाँ उर्दू-साहित्य में, गुल से प्रियतम का और बुलबुल से प्रेमी का अर्थ होता है। माशूकों की निठुरता, प्रेम के इतिहास में, प्रायः अमर-सी हो गई है। माशूक़ निष्ठुर ही हों, यह कोई ज़रूरी बात नहीं है, फिर भी सहृदयता उनमें कम देखी जाती है। जैसे हिन्दी-साहित्य के कुरुचिपूर्ण उपन्यासों को देखकर उपन्यास-विषयों से ही बहुतों को घृणा हो गई है, वे उपन्यास-मात्र को रद्दी साहित्य समझने लगे हैं; वैसे ही माशूकों की निष्ठुरता ने उन्हें सदैव के लिये निष्ठुर बना दिया है। बस, इसी भाव पर फ़रमाते हैं कि इस संसार में एक एक माशूक़ ख़ूनी कफ़न है अर्थात् उनसे प्रेम करनेवालों को अपनी ज़िन्दगी का आसरा त्याग देना चाहिये।

*　　*　　*

४८—गोर[2] किस दिलजले की है यह फ़लक[3],
शोलः[4] एक सुबह याँ से उठता है।

संसार—बहिर्जगत्—वस्तुतः मनुष्य के हृदय का प्रतिबिम्ब-

१—शहादतगाह = शहीदों की जगह। शहीद उसे कहते हैं जो किसी सत्य सिद्धान्त की रक्षा के लिये मरा हो। २—गोर— = क़ब्र। ३—फ़लक = आकाश। ४—शोलः = लपट।

मात्र है। हृदय के आन्तरिक विचारों और स्थिति के अनुकूल ही हम ससार को अनुभव करते हैं। सचमुच संसार मानव-चित्त से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। हम प्रायः देखते हैं इस सिद्धान्त का प्रयोग मामूली कार्यों में भी होता है। एक ही स्त्री को एक मनुष्य अपनी प्राणाधीश्वरी समझता है, दूसरा बहिन, तीसरा माता के नाम से पुकारता है और चौथा पुत्री कहकर। वस्तुतः वह स्त्री हमारी भावनाओं से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसकी अलग कोई सत्ता नहीं है, इसी लिये ऐसी विभिन्नता देखने में आती है। हम संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी स्थिति के अनुकूल चाहते हैं और इसी लिये उसे अनुकूल रूप में देखते भी हैं।

यदि ऊपर के सिद्धान्त से परीक्षा की जाय तो भावुकता पागलपन नहीं, सत्य के रूप में दीख पड़ेगी। जब हृदय दुखी रहता है, चित्त उद्विग्न रहता है, तो मनुष्य की भिन्न-भिन्न, ज्ञान ग्राहिणी इन्द्रियाँ शिथिल और अव्यवस्थित हो जाती हैं। उस अवस्था में मनुष्य अपनी स्थिति के अनुकूल ही अन्य वस्तुओं के सौन्दर्य का अनुभव करता है। प्राणेश्वर से दूर पड़ी हुई विरहिणी बाला को, कोयल की मीठी कूक, हूक हो जाती है, मलयमारुत अग्नि फूँकती है और प्रियतम के साथ-साथ उत्तप्त बालुका राशि में चलकर भी उसको स्वर्गीय सुख का अनुभव होता है। दुःख में कातर मानव-हृदय, सावन की सुहावनो बूँदों को बादल के आँसू समझता है! यही मानव प्रकृति का रहस्य है।

इसी सिद्धान्त की कसौटी पर रखकर इस शेर की परीक्षा करनी पड़ी। मीर, रोना जानता है; यही उसका काम है। इसी स्थिति में, इसी भावुकता में, किसी समय पगलों की भाँति वह सोचता है कि "यह आसमान, आख़िर किस दिलचले की क़ब्र

है ? मैं रोज़ देखता हूँ कि सुबह के वक़्त इस क़ब्र से एक शोला उठा करता है। (ज़रूर यह किसी वियोगी की क़ब्र है, जिसकी आहों से यह निकलता है !)

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त को छोड़कर केवल अलंकारिक दृष्टि से इसे देखें तो भी आकाश को किसी वियोगी की क़ब्र और सूरज को उसकी आहों का शोला कहना कितना मौजूँ (उपयुक्त) हुआ है ! पहली दृष्टि से जाँच करने में कितना मज़ा है—

गोर किस दिलचले की है यह फ़लक,
शोलः एक सुवह याँ से उठता है !

'दिलचले' शब्द कितना अच्छा है, यह 'मनचले' का प्रतियोगी शब्द है। यदि यह 'दिलचले' 'दिलजले' कर दिया जाय तो भी बड़ा अच्छा हो; क्योंकि 'दिलजले' की अवस्था में 'शोला' उठना अधिक युक्तिसंगत होगा।

मेरे पास इनका जो दीवान है, उसमें तो, 'दिलचले' ही छपा है, पर संभव है कि मूल 'दिलजले' ही हो; क्योंकि उर्दू में 'चले' और 'जले' में कुछ विशेष नहीं, केवल दो शून्य का अन्तर है।

*　　　*　　　*

४९-५०—उपरोक्त शेरवाली ग़ज़ल के ही दो शेर हैं :—

१—ख़ानए दिल[1] से ज़ीनहार न जा,
कोई ऐसे मकाँ से उठता है ?
२—नालः सुर खींचता है जब मेरा,
शोर एक आसमाँ से उठता है।

१—खानए दिल=हृदयरूपी घर।

देखिये, कितने सीधे-सादे शब्द हैं, पर संगठन कितना सुन्दर है। एक-एक अक्षर वेदना से भरपूर और असर से मामूर[1] है।

दोनों ही शेरों के आशय साफ हैं। इनपर कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

* * *

५१—आग थे इब्तिदाए[2] इश्क़ में हम,
अब जो हैं ख़ाक इन्तिहा[3] है यह।

मीरसाहब फरमाते हैं कि प्रेम के आरंभ में हम आग थे; किन्तु अब ख़ाक हैं, तुम्हारे अत्याचारों से पिसते-पिसते मिट्टी में मिल गये हैं; अतएव जान पड़ता है कि यह प्रेम की अन्तिम सीमा है।

इसका एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। हम प्रायः देखते हैं कि बाज़ारू प्रेम (अथवा मोह के अर्थ में जो साधारण 'प्रेम' शब्द प्रचलित है वह) क्षणिक होता है। कुछ दिनों तक तो उसमें बड़ा त्याग रहता है, बड़ी उत्कंठा रहती है, प्रियतम से भेंट न होने पर प्राण निकलने लगते हैं, पर यह अवस्था वर्ष-छः महीने से ज्यादा नहीं रहती। ऐसे कम लोग होते हैं जो जन्मभर दुःख झेलकर, पागल बनकर और संसार के महान्-से-महान् ऐश्वर्य को ठुकराकर, जन्मभर रोकर निबाह ले जाते हैं और अपने अमर एवं आदर्श त्याग से मोह को प्रेम बना देते हैं।

यह दूसरा भाव भी इस शेर से निकाला जा सकता है और

१—मामूर=डूबा हुआ, प्लावित। २—इब्तिदा = आरंभ।
३—इन्तिहा=अन्त।

वह यह है कि हमारा प्रेम (अपने बहाने जन-साधारण के लिये भी उर्दू कवि लिखा करते हैं) प्रारम्भ में आग के समान तीक्ष्ण था, किन्तु अब वह ख़ाक के समान हो गया है, इससे ऐसा मालूम होता है कि यही प्रेम की इन्तिहा (अन्त) है।

नोट—ख़ाक से प्रेम के अन्त का अनुमान मीर ने इसलिये किया कि आग का अन्त तभी होता है जब वह ख़ाक हो जाती है। इस हिसाब से यदि प्रेमारंभ को आग मानते हैं तो खाक देखते ही समझना चाहिये कि उस आग का—अर्थात् उत्कृष्ट प्रेम का—अन्त हो गया।

इस शेर में 'आग' और 'ख़ाक' दोनों शब्दों का संयोग बड़ा बढ़िया हुआ है।

❀ ❀ ❀

५२—उसकी तर्ज़े निगाह मत पूछो,
जी ही जाने है, आह! मत पूछो।

संसार में बहुतेरी बातें ऐसी होती हैं, जिनका मनुष्य अनुभव तो करता है, पर कह नहीं सकता। प्रेम-सम्बन्धी बातें इस सिद्धान्त का विशेषरूपेण पोषण करती हैं। प्रेम की अनुभूत-वेदना को ठीक-ठीक प्रकाशित करने की शक्ति का मनुष्य की वाणी में अभी विकास नहीं हुआ है। भला प्रियतमा की बाँकी अदा, कटीले कटाक्ष, प्रेममय हाव-भाव कोई क्या समझाएगा? किस तरह कोई किसी पर मरता है, इसे कवि की जड़ लेखनी क्या चित्रित करेगी? तिरछे नयन-बाण किस तरह ठीक निशाने पर जाकर लगते हैं, इसे कोई क्या बताएगा? अपने प्यारे के चुम्बन, आलिङ्गन और नाज़-अन्दाज में क्या मज़ा है, इसे कौन पागल

समझाने बैठेगा ? ये चीज़ें तो अनुभवगम्य हैं, इनके बताने का तरीका यही है कि पूछनेवाला भी वैसी हालत बनावे। जिसने कभी मिठाई नहीं खाई, भला उसे कोई मिठाई खानेवाला प्रोफेसर क्या बताएगा कि मिठाई क्या है ? उसमें क्या स्वाद है ?

मीर के किसी बेवकूफ़ दोस्त ने जब सुना कि मीर किसी पर पगले हुए हैं तो वह हमदर्दी दिखाने के लिये उनके पास झट पहुँचा और मीर से, उनके प्रियतम की 'अमिय हलाहल मदभरी' आँखों में क्या मस्ती हैं, यह सवाल किया। मीर के तो जान के यों ही लाले पड़े थे, इस आफ़त की हमदर्दी से वह बेचारा और घबड़ा उठा। * उसकी समझ में न आया कि इस सवाल का क्या जवाब देना चाहिये, पर दोस्त लोग क्यों मानने लगे ? बार-बार तंग करने पर मुँह से शेर के रूप में उसका कलेजा उच्छ्वसित हो पड़ा। वह कहता है :—

उसकी तर्ज़ेनिगाह मत पूछो,
जी ही जाने है आह ! मत पूछो।

कहते हैं कि "भाई साहब, आप मेरे ऊपर मिहरबानी करके उसकी आँखों की मस्ती, काट-छाँट मत पूछिये।" इतना कहते-कहते उसका कलेजा कड़कने लगा—बड़े कष्ट से हृदय थामकर बेचारा केवल इतना कह सका—"आह ! मत पूछो, जो कुछ है, वह मेरा दिल ही जानता है, भाई !"

---

* दुःख में किसी के कुछ प्रश्न करने पर दुःख और बढ़ जाता है। ऐसी ही अवस्था का अनुभव करके 'मीर' ने एक जगह लिखा है :—

एक बीमारे जुदाई हूँ मैं आपी तिसपर,
पूछने वाले जुदा जान को खा जाते हैं।

जिनके पास हृदय है, जो मनुष्य हैं, जो रोने का महत्त्व जानते हैं, जो पागल हैं अथवा पागलों से सहानुभूति रखते हैं, वे देखें कि मीर के इस शेर में कितनी वेदना है, कितनी स्वाभाविकता है, कितना मज़ा है और कितनी विदग्धता है? कुछ भी उत्तर, प्रश्नकर्त्ता को, मीर ने नहीं दिया—क्योंकि इसका उत्तर दिया ही क्या जा सकता है?—पर उस 'नहीं' में ही सारा उत्तर भरा पड़ा है। मीर ने अपना कलेजा निकालकर रख दिया है, देखनेवाले देखें कि स्वाभाविकता क्या चीज़ है।

मीर की चुप्पी ग़ज़ब की हुई है। अपनी अनुभूत वेदना को व्यक्त करने का इससे अच्छा उसके पास कोई दूसरा तरीक़ा ही न था। दूसरा टुकड़ा तो—कहा नहीं जा सकता कि क्या है? "जी ही जाने हैं"—कहकर क्या अनोखापन पैदा कर दिया है और उसमें यह 'आह,' सोने की अँगूठी में नगीना है—हीरा है—क्या कहूँ कि क्या है?

❀ ❀ ❀

५३—आह! किस ढब से रोइये कम कम,
शौक़ हद से ज़ियादा है हमको।

दुःख में रोते देखकर प्रायः लोग धीरज धरने का उपदेश दिया करते हैं। ऐसे ही समय के लिये मीर कहते हैं—

"आह! किस तरह से कम रोयें, यहाँ तो हाल ही उलटा है। लोग रोना कम करने का उपदेश देते हैं और यहाँ हर वक़्त रोने की इच्छा लगी रहती है!"

प्रायः सभी शेरों में मीर ने अनुभव की ही बातें कहीं हैं।

❀ ❀ ❀

५४—बेहोशी सी आती है, तुझे उसकी गली में,
गर हो सके ऐ मीर ! तो उस राह न जा तू ।

मीर स्वयं अपने ही को समझाकर कहते हैं—कि "ऐ मीर ! तुझे उसकी गली में जाते बेहोशी सी आती है, अतएव यदि हो सके तो उस राह से तू न जा ।"

अनुभव भी कितनी अमूल्य वस्तु हैं और ख़ासकर प्रेम-सम्बन्धी मामलों में तो इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, वहाँ पाण्डित्य की शान धूल में मिल जाती है ।

पहले इस शेर का पहला पादार्द्ध मुलाहज़ा फरमाइये । 'बेहोशी-सी आती है तुझे उसकी गली में', इसका आन्तरिक रूप से रहस्योद्घाटन कीजिये । मीर कहते हैं कि "उसकी गली में जाने से बेहोशी-सी आने लगती है"—ठीक है, यह मीर का अनुभव है और उन सबका होगा, जो मीर की हालत में पड़े हुए हैं ! जहाँ मैंने अपने प्राणेश्वर के साथ आनन्द से दिन बिताये, जहाँ बैठकर प्रेम की बातें कीं, जहाँ मैंने उनका आलिंगन किया, वहाँ इस वियोग की अवस्था में, जब केवल रोना-ही-रोना रह गया है, जाने से क्या रुलाई न आवेगी ? बेहोशी न हो जायगी ? बेहोशी क्या, यदि प्रेम पूर्णरूपेण गम्भीरता को प्राप्त हो गया हो तो प्राण निकल जाना भी आश्चर्य की बात नहीं है । प्रियतम की गली में वियोगावस्था में जाने मात्र से ही संयोग-समय की प्यारी स्मृतियाँ आँखों के सामने नाचने लगती हैं और उनका ध्यान आने ही से बेहोशी आ जाती है ।

दूसरा पहलू यों भी देखा जा सकता है कि प्रियतम की निष्ठुरता याद आते ही बेहोशी छाने लगती है ।

अब दूसरे पादार्द्ध पर भी थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। "यदि हो सके तो तू उस राह से न जाया कर"। इसमें "यदि हो सके" में बड़ा रहस्य छिपा है। मीर जानते हैं कि चाहने पर भी उस गली में न जायँ, यह यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, इसी लिये "यदि हो सके" लगाकर अपनी बेबसी का उन्होंने चित्र खींच दिया है और इस प्रकार "लुत्फो हयात इश्क़ की मजबूरियों में है" वाली कहावत चरितार्थ कर दी है।

* * *

५५—इश्क़ क्या क्या हमें दिखाता है,
आह! तुम भी तो एक नज़र देखो।

मीर अपने प्रियतम से कहते हैं कि—प्राणेश! भर पेट मुझ पर अत्याचार करो, सताओ, पर ज़रा मेरे ऊपर करुणा करके इतना तो देखते चलो कि तुम्हारा प्रेम हमें क्या-क्या दिखाता है!

* * *

५६—एक सब आग एक सब पानी,
दीदः[१] वो दिल अज़ाब[२] हैं दोनों।

मीर साहब फ़रमाते हैं कि आँख और दिल दोनों ही संकट की सामग्री हैं। इनमें से एक आग है तो दूसरा एकदम पानी है। दिल की उपमा आग से देना कितना ठीक है! वियोगी-हृदय में तो दिन-रात अग्नि जला करती ही है। दूसरी ओर आँखों को पानी कहा है आँखें सदैव जल बहाया करती हैं। सूरदासजी

१—दीदः=आँख। २—अज़ाब=मुसीबत।

का "सखी, इन नैनन सों घन हारे" और स्वयं मीर का 'रोने में अन्नतर के नक्शे मिटा दिये हैं'—ये दोनों पद्य आँखों की जल-वाली उपमा का अनुमोदन करेंगे।

आग और पानी दोनों भयकर चीज़ें हैं और इन दो विरोधी वस्तुओं का एकत्र समावेश कितना सुन्दर हुआ है दूसरी ओर भी देखिये, साधारण ससार में आग और पानी जितनी भयंकर (और साथ ही परमोपयोगी) वस्तुएँ हैं, प्रेम-संसार में दिल और आँखे उनसे कम भयानक नहीं। आँखों ही के द्वारा 'तो दिल खोया जाता है, इन्हीं के कारण तो आदमी पागल हो जाता है और दिल—यह तो ऐसा बेकहा है कि लाख चीख़ते-चिल्लाते रहिये, जिसके साथ जब चाहता है, निकल भागता है। उसकी स्वच्छ-न्दता ही से प्रेमी के ऊपर सदैव आफत सवार रहती है। यों 'दीदः वो दिल' (आँखें और हृदय)—ये ही दो चीज़ें पगलों का मर्ज बढ़ाया करती हैं—(पर हैं यह भी आग-पानी की तरह परमोपयोगी)। कितनी बढ़िया और बैठती हुई बातें हैं।

* * *

५७—आगे दरिया थे दीदए तर 'मीर'
अब जो देखो सुराब[1] हैं दोनों!

पहले ये आँखें सरिता थीं और अब—देखो तो—सुराब, मरुभूमि हैं।

'मीर', यह अनुभव बहुतों को हुआ होगा। वियोग में जब पहले अधिक उत्कंठा रहती है तो बेचैनी और वेदना मनुष्य को विकल किये रहती है, कहीं स्थिर होकर बैठने तक नहीं देती।

१—सुराब = मरुस्थल।

उसी अवस्था में आँखें सरिता का रूप धारण करती हैं। इसके दो-चार-छः महीने बाद, लगातार रोते-रोते, आँखों के रोने की शक्ति क्षीण—विनष्टप्राय—हो जाती है फिर रोने की लाख चेष्टा करने पर भी रुदन-तरंगें नहीं उठतीं, मुँह सूख जाता है; क्योंकि आँसुओं से हृदय की आग जो थोड़ी-बहुत शान्त हो जाया करती है, अब भीतर-ही-भीतर धधकती है और ऊपर न निकल सकने के कारण कलेजा तोड़ डालती है। दूसरा पादार्द्ध उसी अवस्था का है। 'अब जो देखो सुराब हैं दोनों'—अब दोनों (आँखें) सुराब—मरुस्थल हैं।

❀ ❀ ❀

५८—*सुना जाता है शहरे इश्क़ के गिर्द,*
मज़ारें ही मज़ारें हो गई हैं।

अर्थात् "ऐसा सुनने में आता है कि प्रेम-नगर के आसपास मज़ारें-ही-मज़ारें हो गई हैं।"

उपर्युक्त शेर कहकर मीर ने प्रेमियों पर होनेवाली निष्ठुरता का चित्रण किया है। "प्रेम नगर के आसपास चारों ओर क़ब्रें ही क़ब्रें हो गई हैं"—इस बात की सूचना देता है कि प्रेमियों पर इतना ज़ुर्म हुआ है कि वे अब क़ब्र में आहें पूरी कर रहे हैं।

❀ ❀ ❀

५९—*हाल क्या पूछ पूछ जाते हो?*
कभी पाते भी हो बहाल हमें?

कितना उम्दा कहा है! पूछनेवाले—प्रियतम—के प्रश्न का मुँहतोड़ जवाब है। कोरी सहानुभूति और ज़बानी जमाख़र्च की पोल खोल दी है। प्रश्नकर्त्ता महाशय! आगे और कुछ पूछने का हौसला है? चुप क्यों हैं?

जब प्रेमी वियोग के दुःख अथवा प्रियतम की निष्ठुरता की स्मृति से कराह रहा हो, आहें भर रहा हो, कलेजा मसोस-मसोस-कर ज़िन्दगी के दिन पूरे कर रहा हो, उस समय प्रियतम का हँसकर चुलबुली आदत से यह पूछना कि "क्या हालचाल है—कैसी तबीयत है ?" ग़ज़ब ढा देता है। उस अवस्था में तो क़लेजा निकल पड़ता है। जब सब कुछ जानते हुए भी (यह जानकर भी कि यह मुझपर मर रहा है, दीवाना है, मेरे लिये जान जा रही है) यह पूछा जाता है कि तुम्हारी क्या हालत है ? क्यों तुम इतने दुखी रहते हो ? हाय ! इस मर्ज़ का क्या इलाज है ?

मीर से भी यही प्रश्न हुआ, उससे भी पूछा गया कि 'तुम्हारी क्या हालत है' ? जान पड़ता है कि यह प्रश्न पहले भी (हमदर्दी दिखाने के लिये) कई बार पूछा जा चुका था। दीवाना मीर क्या उत्तर देता ? उसको अपनी किस्मत पर हँसी भी आती थी, और रोना भी। बड़े कष्ट से बोला—"भाई ! मेरा हाल क्या पूछा करते हो ? कभी तुम मुझे ठीक अवस्था में, होश हवास से दुरुस्त भी पाते हो ?"

दुम दबाकर नौ दो ग्यारह होइये जनाब ? अब यह ज़बानी हमदर्दी वाला ढोंग निबह न सकेगा।

* * *

६०—*एक सिसकता है एक मरता है,*
हर तरफ़ ज़ुल्म हो रहा है यहाँ।

प्रेम-संसार की बातें हैं। मीर साहब उस संसार की सैर करके 'यात्रा-विवरण' लिखने बैठे हैं। उस देश की अवस्था का चित्र खींचते हुए एक स्थान पर आप लिखते हैं:—"वहाँ, मैंने

देखा कि कोई मर रहा है, कोई सिसक रहा है, कोई कराह रहा है। चारों ओर ज़ुल्म हो रहा है।"

❀ ❀ ❀

६१—आह और अश्क है सदा ही यहाँ,
रोज़ बरसात की हवा है यहाँ।

उस देश के सम्बन्ध में आगे आप और भी लिखते हैं:—"यहाँ (इस प्रेम-देश में) सदैव आहें और आँसू दीख पड़ते हैं। सदा बरसाती हवा चला करती है!"

चित्र-सा खींच दिया है। प्रेमी की मुसीबतों का इससे अच्छा वर्णन क्या हो सकता है जो सीधे-सादे दो-चार शब्दों में हो, पर 'तीरे नावक' की तरह सीधे दिल में जाकर चुभे।

❀ ❀ ❀

६२—जिस जगह हो ज़मीन तुफ़्ता समझो,
कि कोई दिलजला गड़ा है यहाँ।

मीर साहब दिलजले हैं. उन्हें सारी वस्तुएँ दाहक प्रतीत होती हैं। उनकी काव्य-कल्पना सीमाबद्ध है। वह जो कुछ कहते हैं, रोते हुए विश्व से ही खोजकर निकालते हैं। उनकी कल्पना का दायरा वेदना के ही अन्तर्गत है—इस सीमा का उल्लंघन करके हँसते हुए संसार में जाना भी वह पाप समझते हैं। जिसका हृदय जल गया हो, जो जीवन-भर रोने पर भी अपनी किस्मत को न बदल सका हो, वह बेचारा क्या हँसेगा? वह तो पागल है—उसे रोने की इतनी आदत पड़ गई है कि वह अपनी सम्पूर्ण काव्य-कला के बल पर—बनावटी ढंग से भी, एक बार हँस नहीं

सकता। हँसना तो दूर, उसकी कल्पना करना भी उसके लिये दूभर है।

मीर साहब कहते हैं कि जिस जगह ज़मीन गर्म हो, जल रही हो, उस जगह समझ लो कि कोई दिलजला गड़ा है।

ठीक है मीर! जरूर गड़ा है। तुम दिलजले हो, तुम ज़रूर इसका अनुभव करोगे।

❀ ❀ ❀

६२—उन्हीं गलियों में जब रोते थे हम 'मीर'
कई दरिया की धारें हो गई हैं।

मीर साहब कहते हैं कि—"जब हम उन गलियों में रोते थे, तब कई बार दरिया की धारें बह गई हैं।"†

❀ ❀ ❀

---

† यह बहुत ज़्यादा अत्युक्ति नहीं है। हिन्दी-काव्य-गगन के प्रदीप्त सूर्य भक्त-प्रवर 'सूर' गोपिकाओं के नेत्राम्बुप्रवाह का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

कैसे पनिघट जाउँ सखीरी? डोलौं सरिता तीर,
भरि-भरि जमुना उमड़ि चली हैं इन नैनन के नीर।
इन नैनन के नीर सखीरी सेज भई घर नाउँ,
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै स्याम-मिलन को जाउँ।

'तोष' भी लिखते हैं :—

गोपिन के अँसुवान को नीर,
पनारे भये बहिकै भये नारे।
नारेन हूँ सों भई नदियाँ,
नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे॥

६४—ख़ाके आदम ही है तमाम ज़मीन,
पाँव को हम सँभाल रख़ते हैं।

यह सम्पूर्ण ज़मीन 'ख़ाके आदम' है—मनुष्यों के शरीर की धूल है, इसलिये हम पाँव को सँभाल सँभालकर रखते हैं।

वेदना और विश्व-प्रेम का एकत्र मिलन देखना हो तो इस शेर का आन्तरिक तत्त्व हृदयङ्गम कीजिये। प्रेम और उन्माद का अखंड एकात्म्य मीर के इस शेर में झलक रहा है।

❀ ❀ ❀ ❀

६५—यह जो सर खींचे तो क़यामत है,
दिल को हम पायमाल रखते हैं।

मीर साहब कहते हैं कि यह (दिल) जो सर खींचे-शक्ति-सम्पन्न हो जाय, तो प्रलय हो जाय, यही समझकर तो इसे हम पैर के नीचे कुचले हुए हैं!

वियोग की अवस्था का, आँसुओं से भरा हुआ, चित्र है। संसार में सबके लिये सुख है, सब दुखों से जी बहलाने के लिये अनेकानेक उपाय हैं। तबीयत सुस्त हो जाय, छड़ी उठाइये

वेगि चलौ तौ चलौ व्रज को,
'कवि तोष' कहैं, व्रजराज-दुलारे।
वे नद चाहत सिन्धु भए, अब
नाहिं तो ह्वैहै जलाहल सारे॥

मीर ने भी दूसरी जगह लिखा है :—

"शर्त यह अब्र में हममें है कि रोवेंगे कल,
सुबह उठते ही आलम को डुबोवेंगे कल।

ख़ुदा के लिये जनाब आप अपनी इस शर्त को वापस लीजिये। अपनी बाज़ी के लिये दुनिया को मत डुबाइये।

और सीधे 'सिनेमा' का रास्ता पकड़िये, आपका मनोरंजन हो जायगा। मन न लगता हो, किसी पुष्पोद्यान को सैर कर आइये। इस प्रकार दुनिया में सब दुखों की निवृत्ति का थोड़ा उपाय है, पर प्रेम की वेदना, वियोग की व्यथा, कैसे सँभाली जाय। जो अपने प्यारे से मिलने के लिये बेचैन है, पागलपन ने जिसकी आँखों पर वेदना की 'फ़िल्म' चढ़ा दी है, जिसे ससार सूना है, वह बेचारा क्या करे ?

ऐसे मनुष्यों को विवश होकर अपनी उमगों को रोकना पड़ता है, अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है, और अपने उत्साह को तोड़कर कलेजे को कुचल देना पड़ता है। फिर उनका हृदय टूट जाता है—किसी प्रकार वे अपनी ज़िन्दगी के दिन पूरे करते हैं।

मीर ने भी विवश होकर—जैसा वह इस शेर में कहते हैं—अपने हृदय को 'पामाल' (पैर से कुचला हुआ) कर रखा है, उसका हृदय भी टूट गया है।

❀ ❀ ❀

६६—तेरे बालों के वस्फ़[1] में मेरे,
शेर सब पेचदार होते हैं।

उर्दू-साहित्य में 'प्रियतम' के बालों (और खासकर टेढ़ी-मेढ़ी ज़ुल्फ़ों) का .खूब वर्णन है। प्रायः सभी कवियों ने उसपर कुछ-न-कुछ कहा है। इस प्रकार की उर्दू-रचना का अध्ययन करते समय इतनी बात याद रखनी चाहिये कि बालों को उर्दू कवि जितना पेचदार कह सकें उतना ही अच्छा माना जाता है।

१—वस्फ़ = प्रशसा।

मीर साहब फ़रमाते हैं कि तेरे बाल इतने पेचदार हैं कि उनकी प्रशंसा में मैं जो शेर कहता हूँ, वह (शेर ही) पेचदार हो जाता है !

मीर साहब की ही एक उक्ति है—

आवेगी एक बला तेरे सर सुन कि ऐ सबा !
ज़ुल्फ़े सियह[१] का उसके अगर तार जायगा ।

मीर साहब सबा (प्रभाती वायु) को सावधान कर रहे हैं कि होशियार होकर बहाकर, वर्ना यदि किसी रोज़ इसके .ज़ुल्फ़े-सियह (पेचदार काली .ज़ुल्फ़ों) से पाला पड़ जायगा तो तेरे सर एक बला आ जायगी। ❀

बिहारी ने भी एक बढ़िया उक्ति कही है :—

कच समेटि कर भुज उलटि, खए सीस पट टारि।
काकौ मन बाँधै न यह, जूरौ बाँधनिहारि॥

दोहे का पिछला पादार्द्ध ग़जब का हुआ है।

२—.ज़ुल्फ़े सियह = काली अलकें।

❀दिल पर डाका डालनेवाली जितनी चीज़ें हैं, प्रियतम की ज़ुल्फ़ें भी उनमें प्रधान हैं। मीर ही ने किसी जगह एक शेर लिखा है, (मुझे इस समय याद नहीं है) जिसका आशय है—"आह ! तू कैसा बेदर्द शिकारी है, इस प्रकार अपनी .ज़ुल्फ़ों में मेरा ताइरेदिल (हृदय-पक्षी) क्यों फँसाए जाता है ? थोड़ी तो दया कर।"

हिन्दी और संस्कृत कवियों ने भी अलकों और जूड़ा बाँधने पर अनेक उत्तमोत्तम उक्तियाँ कही हैं। किसी संस्कृतकवि ने कितना अच्छा कहा है—

"जानुभ्यामुपविश्य पार्ष्णिविहितश्रोणिभरा प्रोन्नमद्-
दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीव्यन्नखाङ्कावलिः।

'श्रृंगारसप्तशतीकार' ने इस दोहे का संस्कृत (दोहात्मक) पद्यानुवाद यों किया है:--

उन्नमय्य वाहुद्वयं, कचपुजं गृह्णाति।
प्रियाकेशबन्धे मनः कस्य न सा वध्नाति॥

(शृं० स०-४५५)

बिहारी के इस दोहे का जवाब नहीं है :--

छुटे छुटावै जगत तैं, सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे, नील छबीले बार॥

वाह रे बिहारी ! आखिर ठहरे तो उस्ताद ही न ?
एक संस्कृत-कवि क्या अंटसंट अलाप रहा है :--
कमलाक्षि ! विलम्ब्यतां क्षणं कमनीये कचभार बन्धने।
*दृढ़लग्नमिदं दृशोर्युगं शनकैरद्य समुद्धराम्यहम्॥**

*   *   *

६७—*चश्म में अश्क हुए या न हुए एकसाँ है,*
खाक में जब वह मिला मोती का दाना हो गया।

पाणिभ्यामवधूय कङ्कणझणत्कारावतारोत्तरं,
वालानह्यति किं निजालकभरं किं वा मदीयं मनः॥

कितना उत्तम श्लोक है। पढ़कर चित्र-सा खिंचा जाता है। जितनी तारीफ़ की जाय, थोड़ी है। 'बाला नह्यति किं निजालकभरं किंवा मदीयं मनः' कितना सुन्दर है ! इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर रसिक पाठक स्वयं दें।

*कमलाक्षि ! ज़रा ठहरो, मेरी आँखें तुम्हारे केशपाश (रूपी सघन जाल) में जा फँसी हैं। धीरे-धीरे मैं उन्हें निकाल लूँ तो फिर जूड़ा बाँधो। थोड़ी देर के लिये मेरे ऊपर मिहरबानी करो, अन्यथा ये उसी में बँधी रह जायगी, मैं उनसे हाथ धो रहूँगा।

मीर साहब फरमाते हैं :-- आँखों में आँसू हुए तो क्या, और न हुए तो क्या ? जब उस मोती के दाने को धूल ही में मिलना है, उससे कुछ लाभ नहीं उठाया जा सकता, तो फिर उसका होना, न होना दोनों बराबर है।

जब आदमी पागल हो जाता है तो वह यों ही अंट-संट बका करता है। कभी एक ही चीज़ अच्छी दीख पड़ती है और कभी बुरी। मीर भी तो पागल ही है न ?

* * *

६८—हर आन हमको तुझ बिन एक एक बरस हुई है,
क्या आ गया ज़माना ऐ यार रफ़्ता रफ़्ता।

वियोग के दिन बरसों के बराबर हो जाते हैं, उनका कटना मुश्किल हो जाता है। जब मनुष्य पर दुख की गहरी कालिमा आ पड़ती है तो वह इतना अधीर हो ही जाता है कि २४ घंटे का दिन महीनों के बराबर जान पड़ता है। वियोग की रात, जल्दी बीतती ही नहीं। देखिये एक महाशय 'घड़ियाल बजानेवालों' पर बेतरह बिगड़ खड़े हुए हैं :—

शबेविसाल में क्या जल्द कटी थीं घड़ियाँ,
आज क्या मर गये घड़ियाल बजानेवाले।

अर्थात् 'मिलन-रात्रि' में घड़ियाँ कितनी जल्दी कटी थीं-- और आज इतनी देर क्यों हो रही है ? घड़ियाल बजानेवाले मर तो नहीं गये ?'

मीर साहब फ़रमाते हैं "मुझे तेरे वियोग में एक-एक क्षण एक-एक बरस हो गया है--वाह, धीरे धीरे क्या ज़माना आ गया !"

मीर ने जो कुछ कहा है, वह अनुभव है। उसमें कवित्व नहीं, पर स्वाभाविकता है, जान है। अतिशयोक्ति की ज़रा भी छाया उन्होंने आने नहीं दी, वे एक-एक क्षण को एक-एक युग का रूप दे सकते थे, कुछ दूसरा भी चाहते तो कह लेते, पर वह झूठी बात हो जाती। वह केवल पढ़ने की चीज़ हो जाती, समालोचना का विषय हो जाता।

'बिहारी' ने अपने एक दोहे में वियोग की अनन्त वृद्धि का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया है, पर उसमें चमत्कार जो हो अतिशयोक्ति ने स्वाभाविकता नष्ट कर दी है। दोहा यों है :—

रह्यो ऐंचि अन्त न लह्यो, अवधि-दुशासन वीर।
आली बाढ़त विरह ज्यौं, पांचाली को चीर॥ ※

"हे आली-सखी ! यह विरह तो पांचाली (द्रौपदी) के चीर की नाईं बढ़ता ही जाता है। अवधि-रूपी दुःशासन इसे खींचता जाता है, पर अन्त तो होता ही नहीं।"

इस 'पूर्णोपमा'-मय दोहे में चमत्कार है, पांडित्य है, कवित्व है; पर पाण्डित्य और अनुभव दो अलग चीज़ें हैं। अनुमान और प्रतिमा के बल पर बिहारी ने जो कुछ कह डाला, आख़िर उसमें एक ग़लती रह ही गई। उस ग़लती ने जिसे कुछ 'बिहारी-भक्त' दोहे का चमत्कार समझते हैं—बण्टाढार कर दिया।

※'सप्तशतीकार' परमानन्द ने इसका संस्कृत अनुवाद यों किया है:—

विरहो द्रुपदसुतावसनमिव वर्द्धते चिराय।
अवधिदिवसदुःशासनो, यस्यान्तं न जिगाय॥

(श० स० १३४)

प्रथम पादार्द्ध में 'यतिभंगदूषण' तो है ही, रचना भी सुन्दर नहीं है।

इतिहास साक्षी है कि पांचाली के चीर का अन्त नहीं हो सकता। वह अनन्त है— दुःशासन वेचारा चाहे जितना खींचे, पर वह समाप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि वियोग के दिनों की (अथवा वियोग की) उपमा विहारी के कथनानुसार 'पांचाली-चीर' से दी जाय तो इसका यह आशय हुआ कि 'वियोग' के दिन अनन्त हैं, उनका कभी अन्त हो ही नहीं सकता, पर इस वात में काव्यगत जितना चमत्कार है, उतनी ही असत्य की भी संघटना है। 'वियोग के दिन कभी बीतें ही न,' यह वात तो दूसरी दुनिया की है। बीतते हैं, पर मुश्किल से—देर में, दुख देकर। विहारी के वियोग के लिये प्रकृति की चाल में परिवर्तन हो जाय, यह कभी संभव नहीं। वियोग और संयोग दोनों का ही अन्त कभी-न-कभी होगा—वे अनन्त नही हो सकते। यदि एक अनन्त हो जाय तो अन्धकार के वाद प्रकाश, दुख के वाद सुख, रात के वाद दिन-वाला सिद्धान्त खाक में मिल जाय!

ज़्यादा-से-ज़्यादा वियोग के दिन का वर्णन इतना कर सक़ते हैं जितना 'शाह आवरू' ने निम्नलिखित शेर में किया है :—

जुदाई के ज़माने की सजन क्या ज़्यादती कहिये,
कि इस ज़ालिम की जो हमपर घड़ी गुज़री सो जुगवीता,

'घड़ी को जुग' के समान कहकर भी शाह साहव ने 'गुज़री' लगाकर मेरे उपर्युक्त सिद्धान्त का अनुमोदन कर ही दिया। चाहे जितनी वड़ी घड़ी हो, पर गुज़रेगी ज़रूर। गुज़रे ही न, ऐसा नहीं हो सकता।

❀ ❀ ❀

६६—*आने में उसकी हाल हुआ जाय है, बग़ैर,*
क्या हाल होगा पास से जब यार जायगा।

मीर साहब कहते हैं कि "मैंने जब से सुना है कि इधर होकर हमारे प्राणेश्वर किसी जगह (अथवा अपने किसी दूसरे प्रेमी के यहाँ) जानेवाले हैं तभी से मेरा हाल ठीक नहीं है—वेहोशी-सी आ रही है। मालूम नहीं कि जब वह यहाँ से गुज़रेंगे (और मेरे यहाँ बिना ठहरे, बिना बोले चाले, चले जायँगे) तब मेरी क्या हालत होगी ?"

एक पागल, जो प्रेम की वेदना से व्याकुल है, जो किसी पर मर रहा है, पर दूसरा उसे पूछता भी नहीं (या यदि पहले प्रेम से मिलता-जुलता भी था तो अब नहीं मिलता)—उसे कितना कष्ट यह देखकर होगा कि वह (प्राणेश) मेरे घर के पास से होकर जाते तो हैं, पर एक साधारण परिचित की भाँति भी बात-चीत नहीं करते।

* * *

७०—'मीर' हरएक मौज[1] में है .ज़ुल्फ ही का सा दिमाग़,
जब से वह दरिया पर आके बाल अपने धो गया।

मीर साहब कहते हैं कि जब से वह (मेरा प्रियतम) नदी के किनारे आकर अपने बाल धो गया तब से प्रत्येक तरंग (लहर) में ज़ुल्फ़ का सा ही दिमाग़ देखने में आता है, अर्थात् तब से प्रत्येक तरंग में .ज़ुल्फ़ की ही भाँति उतार-चढ़ाव (लहर) देख रहा हूँ।

नोट—कंघी की हुई ज़ुल्फ़ों की शक्ल ठीक तरंग की भाँति होती है।

* * *

७१—मुद्दआ जो है सो वह पाया नहीं जाता कहीं,
एक आलम जुस्तजू[2] में जी को अपने खो गया।

१—मौज = तरंग। २—जुस्तजू = अन्वेषण।

"जो मतलब है, उद्देश्य है, आदर्श है, वह तो कहीं मिलता नहीं; किन्तु दुनिया ने उसके अन्वेषण में अपने प्राण निछावर कर दिये।"

* * *

७२—आह ! क्या सहल गुज़र जाते हैं जी से आशिक़,
ढब कोई सीख ले उन लोगों से मर जाने के।

मीर साहब कहते हैं—"आह ! प्रेम करनेवाले दीवाने कितनी जल्दी जान से गुज़र जाते हैं, प्राण दे बैठते हैं। जिनको मरने की इच्छा हो, वे ऐसे ही लोगों से मरने का ढंग सीख लें।"

'आह क्या सहल गुज़र जाते हैं जी से आशिक़'. कहते समय, ज़रा ध्यान से देखिये, मीर को वेदना भी है, पर सन्तोष और प्रसन्नता भी उस वेदना में मिली हुई है।

'ढब कोई सीख ले उन लोगों से मर जाने के' कहने से यह भी मालूम होता है कि इस प्रकार आशिक़ होकर मरने को कवि मृत्यु का सबसे उत्तम रूप समझता है। जिन्हें मरना हीं हो वे किसी पर मरकर मरें—क्योंकि ऐसे दीवाने बड़ी आसानी के साथ जी से गुज़र जाते हैं।

* * * *

७३—निरा धोखा ही है दरियाए हस्ती,
नहीं कुछ तह से तुमको आशनाई।

वेदान्त का तत्व है कि संसार में कुछ नहीं है, जिन पदार्थों को हम देखते हैं, जिस रूप में देखते हैं, वे क्षणिक हैं, परिवर्तनीय हैं, असत्य हैं, असार हैं। स्वप्न की नाईं हमारी आँखों में एक व्यापक अन्धकार छाया हुआ है, अतएव हम विश्व का अनु-

भव उसके आन्तरिक रूप में नहीं करते। यह अज्ञान, यह व्यापक स्वप्न, बिना अन्तस्तल की जाँच किये, टूट नहीं सकता। संसार की वास्तविकता उस समय मालूम होगी, जब हम हृदयस्थित व्यापक एवं ज्योतिर्मय आत्म-तत्त्व का अनुभव करेंगे, जब हम सीमाबद्ध और क्षुद्र मानव-सत्ता में विराट देव-दुर्लभ सत्य-रूप को देखेंगे—जब हमीं-हम होंगे अथवा हम 'अहम्' के रहस्य को जान लेंगे।

मीर साहब भी यही कहते हैं। वे अज्ञान जीवों को सावधान करते हैं, देखिये—"भाई, तुमलोग इस सृष्टि-सरिता को सत्य समझे बैठे हो, तुम समझते हो कि जो कुछ हमें दीखता है सब सत्य है, परन्तु यह बात नहीं है। तुम्हारी आँखों में कुछ विकार आ गया है, वे ठीक रूप में काम नहीं दे रही हैं, तभी तुम इस नदी को इस रूप में देख रहे हो, अन्यथा यह तो केवल धोखा ही है। तुमको इसकी तह का कुछ हाल मालूम नहीं है, इसी लिये इस प्रकार की असत्य धारणा तुम्हारे मन में हो रही है। जब तुम इसके आन्तरिक रूप की जाँच करोगे, इसके तह की छान-बीन करोगे तब तुम्हें इसकी वास्तविक स्थिति का पता चलेगा।"

* * *

७४—क्या चाल यह निकाली होकर जवान तुमने,
अब जब चलो हो दिल को ठोकर लगा करे है।

"प्यारे! इतने बड़े तुम हो गये, परन्तु अब तक भी तुम्हारे हृदय में दयाधर्म का समावेश न हुआ। युवक होकर भी न जाने तुमने यह कौन-सी (मस्ती भरी हुई) चाल निकाली है कि जब चलते हो तो दिल को ठोकर-सी लगती है।"

मस्ती भरी हुई चाल से दिल को कैसे ठोकर लगती है, यह लिखने-पढ़ने की बात नहीं, स्वयं अनुभव करने की चीज़ है। जिन्हें शौक़ हो और जो तकलीफ़ झेल सकें, परीक्षा कर देखें।

* * *

७५—हज़ार बार घड़ी भर में मीर मरते हैं,
उन्होंने ज़िन्दगी का ढब नया निकाला है।

शेर का अर्थ सीधा और साफ़ है। मरने और ज़िन्दगी में विरोधाभास है। इस शेर के द्वारा कवि ने 'जीवनमरण-रहस्य' की विवेचना की है। 'घड़ी भर में हज़ार बार मरने' की बात कहकर मीर ने मृत्यु की भयंकरता की पोल खोल दी है।

उर्दू के अनेक कवियों ने इस तत्त्व का अनुशीलन किया है। 'हश्र' के इस शेर का जोड़ देखने में नहीं आता :—

जब से सुना है मरने का नाम ज़िन्दगी है,
सर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूँढ़ते हैं।

'मरने का नाम ज़िन्दगी है' कहकर कवि ने दोनों में अभेद-भाव का समुत्पादन किया है। और लोगों ने तो जो कुछ कहा है वह प्रकारान्तर से, पर आग़ा साहब ने उस सीमा का भी अतिक्रमण कर दिया है, जहाँ तक कहने की हद है।

ग़ालिब ने भी कहा है :—

मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का,
उसी को देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पै दम निकले।

जिसपर दम निकलता है, उसी को देखकर जीते हैं—क्या निराला पागलपन है!

किसी दूसरे उर्दू-कवि का कथन है :—

'तुम पर मरने ही में हमने जीने का सुख जाना है।'

* * *

७६—*हर कोई इस मुक़ाम में दस रोज़,*
अपनी नौबत बजाये जाता है।

मीर साहब संसार की क्षणभंगुरता पर आँसू बहाते हुए कहते हैं कि यहाँ प्रत्येक मनुष्य दो-चार-दस रोज रहकर अपनी नौबत बजाकर चला जाता है !

शेर कितना सादा है। चार दिन की ज़िन्दगी का स्थूल रूप—ख़ाका—इसमें कवि ने खींच दिया है।

* * *

७७—*हम कुश्तए-इश्क़ हैं हमारा,*
मैदान की खाक की कफ़न है।

हम दीवाने हैं, पागल हैं, प्रेम के घायल हैं। मैदान की ख़ाक ही हमारा कफन है। (हमें मखमल, तजेब से क्या काम ?)

आह ! 'मैदान की ख़ाक ही कफन है'—इसमें कितनी वेदना भरी है—एक-एक शब्द से हसरत टपक रही है।

* * *

७८—*पलकों से रफ़ू उनने किया चाके दिल ऐ मीर,*
किस ज़ख़्म को किस नाज़की के साथ सिया है।

रफ़ू करना, किसी फटी हुई चीज़ को तागे भर-भरकर पूरा करने को कहते हैं। बाकी अर्थ साफ है।

* * *

७९—*हर सुबह उठके तुझसे माँगूँ हूँ मैं तुझी को,*
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।

एक प्रेमी के लिये (मैं सच्चे और पक्के प्रेमी की बात कह

रहा हूँ) इससे ज़्यादा और कोई बड़ी इच्छा नहीं हो सकती कि किसी भी अवस्था में वह अपने प्यारे को न भूले, सदैव उसे ही पाने की इच्छा करे। एक सच्चे प्रेमी के लिये अपने प्रियतम के अतिरिक्त विश्व में कोई आदर्श वस्तु नहीं, जिसकी वह कामना कर सके। वह पागल है; वह मुक्ति, परम तत्त्व और परमेश्वर की विवेचना नहीं करना चाहता—वह तो अपने प्यारे को ही सब कुछ मान बैठता है। यदि कोई परमेश्वर है तो वही है, यदि सृष्टि का कुछ लक्ष्य है तो वही है; माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र, जो कुछ है, सब वही है। वह तो मुक्ति को उसके आगे पैरों से ठुकरा देता है—वह उसको छोड़कर परमात्मा की भी इच्छा नहीं करता।* इसके बाद वह अपने प्रियतम को—अपने चरम लक्ष्य को—पाने की चेष्टा करता है, वह केवल उसे ही चाहता है, उसमें एकात्म्य-लाभ करना चाहता है, उससे अभिन्न होने की अतृप्त वासना करता है; उससे अखण्ड, अटूट, अनन्त और

---

* 'मजनू' के सम्बन्ध की एक कहानी है कि एक बार मजनूँ ने यह स्थिर करके कि मैं इन आँखों से लैला के अतिरिक्त और कुछ न देखूं, आँखें मूँद लीं और फिर बहुत दिन हो गये, खोलीं नहीं। परीक्षाथ परमात्मा स्वयं प्रकट हुए और कहा, 'तू आँखें खोल और मेरी ओर देख'। मजनूँ ने पूछा,—'तू कौन है'? प्रत्यागत ने कहा, मैं परमात्मा हूँ। मजनूँ ने कहा 'मुझे परमात्मा से कुछ काम नहीं, मैं तो इन आँखों से लैला को छोड़ किसी को नहीं देख सकता'। खुदा ने कहा—मेरे लिये लोग करोड़ों बरस दुःख भोगते हैं, तब भी मैं मुश्किल से मिलता हूँ—इस प्रकार बहुत लालच दिया, पर उसने कहा कि 'लैला के अतिरिक्त मैं न तो किसी को चाहता हूँ, न जानता हूँ और न देखने की इच्छा ही रखता हूँ।'

निर्विकार एकान्त आलिंगन चाहता है। यही उसके जीवन को साधना है, और यदि वह कभी मुक्ति की इच्छा कर सकता है तो इसी प्रकार से। वह अपने प्रियतम के अतिरिक्त, हृदय में किसी वस्तु की कल्पना भी करना नहीं चाहता; क्योंकि इससे उसके अखण्ड एकात्म्य-बोध में, सत्य ध्यान में और चिरन्तन आलिंगन में बाधा पड़ती है। उसकी वासनाओं की तृप्ति यहीं हो जाती है।

जो लोग उससे बड़ा, अथवा उसके अतिरिक्त खुदा को मानते भी हैं, ऐसे प्रेमी भो ख़ुदा से उसके (प्रियतम के) अतिरिक्त कुछ नहीं माँगते। उनकी सदिच्छाओं का भी यहीं अन्त हो जाता है। आग़ा 'हश्र' काश्मीरी के एक शेर में इस सिद्धान्त को देखिये :—

"सब कुछ खुदा से माँग लिया तुझको माँग कर,
उठते नहीं हैं हाथ मेरे इस दुआ के बाद।"

मीर साहब भी फरमाते हैं कि "प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मैं तुझसे तुझी को माँगता हूँ। 'तेरे अतिरिक्त मेरा और कुछ उद्देश्य नहीं है। तेरे सिवा दूसरा मैं कुछ नहीं चाहता।"

मीर सच्चा प्रेमी है। 'तेरे सिवा मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है'—कहकर मीर ने अपने अखण्ड प्रेम का परिचय दिया है। दुःख है कि ऐसा पागलपन दुनिया में खरीदने से नहीं मिलता !

❀ ❀ ❀ ❀

८०—दर्द है जौर है, बला है इश्क़,
शेख़ क्या जाने तू कि क्या है इश्क़।
तू न होवे तो नज्म कुल उठ जाय,
सच्चे हैं शायराँ ख़ुदा है इश्क़।

प्रेम क्या है ? इसका जवाब अनन्त काल से लोग देते आये

हैं। अनन्त मुखों ने अनन्त-अनन्त प्रकार से इसकी विवेचना की है; पर आज तक उसकी परिभाषा कोई न कर सका।* कोई कर भी नहीं सकता, फिर पागल मीर क्या करेगा? वह अपने जोश में कहता है—"प्रेम वेदना है, उन्माद है, अत्याचार है... ....परमेश्वर है।" 'खुदा है इश्क़' कहकर ईसाई धर्म के परमोदार सिद्धान्त God is Love (ईश्वर प्रेम है) को मीर साहब ने अनुमोदित किया है।

अर्थ साफ़ है।

* * *

८१—'मीर' तलवार चलती है तो चले,
खुशखरामों की चाल हैं कुछ और।

'गज-गति' मस्ती-भरी चाल का आदर्श है। ऐसी चालें हृदय चीर डालती हैं, कलेजे में गुदगुदी उत्पन्न करती हैं। चंचल-से-चंचल मन ऐसी गति पर लोट पड़ता है, ठुमकने लगता है, रीझ उठता है।

मीर भी वही कहते हैं; पर विचित्र ढंग से। फ़रमाते हैं :—

"तलवारें चलती हैं तो चला करें; परन्तु इन खुशखरामों (अच्छी चालवालों) की तो चाल ही कुछ दूसरी है।"

प्रकारान्तर से मीर ने 'तलवार की चाल' और प्यारे की 'मस्ती-भरी चाल' की तुलना की है। वह कहते हैं कि "तलवार की चाल, काट-छाँट प्रसिद्ध है। तलवारें ख़ूब चलती हैं, ख़ूब

---

*स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न ने कितना ठीक कहा है :—

उलटा-पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा।
मिलहि न पर कहु एक प्रेम पूरी परिभाषा॥

काट-छाँट करती हैं—किया करें; (उनके वार से तो रक्षा हो भी सकती है); पर इन गज-गामियों की तो चाल ही कुछ और है। कुछ दूसरी ही बात है। तलवार की इससे क्या तुलना ?"

सचमुच इन तलवारों के आगे लोहे की उन मामूली तलवारों की क्या गिनती ? यह तो आदमी को सदैव के लिये पागल कर देती हैं। और उनकी चोट तो 'हास्पिटल' के 'पेशेण्ट-बेड' (रोगी की शय्या) तक ही है।

* * *

८२—जिस दिन कि उसके मुँह से बुरक़ा उठेगा, सुनियो ,
उस रोज़ से जहाँ में .खुरशीद फिर न झाँका ।

मीर साहब फरमाते हैं कि जिस दिन उसके मुँह से बुरका (कपड़े का वह भाग जो मुसलमान स्त्रियाँ मुँह ढँकने के काम में लाती हैं) उठेगा, उस दिन से फिर सूरज न झाँकेगा।"

मीर की उक्ति सुन्दर है, अनूठी है, मनोहर है !

'सूरज क्यों न झाँकेगा ?'

सूरज के न झाँकने के दो कारण मीर के शेर से निकलते हैं। पहला यह कि 'उसके मुँह की अनन्त ज्योति के आगे अपनी ज्योति की मलिनता का अनुभव करके सूर्य को इतनी लज्जा आवेगी कि वह अपना मुँह फिर न दिखावेगा, और दूसरा यह कि 'उसकी अपार ज्योति के कारण सूर्य का प्रकाश इतना क्षीण हो जायगा कि फिर साधारणतः लोगों को वह दिखाई ही न देगा, लोग समझेंगे कि अब वह कभी निकलेगा ही नहीं।'

इस विषय पर संस्कृत और हिन्दी के कई कवियों ने भी क़लम चलाई है। पहले उनकी जाँच पड़ताल हो जाने दीजिये, पीछे आप ही निर्णय हो जायगा।

'रतनहज़ारा' रसनिधि की प्रसिद्ध रचना है। हिन्दी-साहित्य के अनेक आचार्यों का मत है कि उसके दोहों से विहारी के दोहों की तुलना की जा सकती है। यह बात तो ठीक नहीं ज्ञान पड़ती, परन्तु इतना माना जा सकता है कि एक हज़ार दोहों का यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य की मूल्यवान् सम्पत्ति है। अनेक स्थानों पर इसमें अच्छी उक्तियाँ पाई जाती हैं।

'रतनहज़ारा' के कर्त्ता ने नायिका के मुख का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है :—

कुहू निसा तिथिपत्र मैं, वाचन कौ रहि जाइ।
तुव मुख-ससि की चाँदनी, उदै करति है आइ॥

(भारतजीवन-संस्करण, पृष्ठ २३, दोहा नं० १६७)

अर्थात् "पत्रे में कुहू-निसा केवल बाँचने-भर को रह जाती है, वस्तुतः कभी वह आती नहीं, दीख नहीं पड़ती, क्योंकि उस पर 'तुव मुख ससि को चाँदनी' अखण्ड अधिकार जमा लेती है। इस प्रकार 'कुहू-निसा' की सत्ता ही लुप्त हो गई है !"

चलिये, रात के समय रास्ता काटनेवालों को आराम हो गया। म्युनिसिपैलिटियों का भी भाग्य खुला कि 'कुहूनिसा' के दिन रोशनी करने के लिये लालटेनों में जो तेल ख़र्च होता था, उसकी बचत हो गई। इसके बाद विहारी की 'क़लम-कारीगरी' देखिये। आप फ़रमाते हैं :—

पत्रा ही तिथी पाइयत, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्योई रहै, आनन ओप उजास॥

(लाल-चन्द्रिका—आज़मशाहीक्रम—४८६। 'विहारी-विहार', १४५ पृष्ठ)

अर्थात् "उस घर के आसपास अब तिथियाँ केवल पत्रे ही में लिखी हुई दीख पड़ती है, वस्तुतः उनकी कोई सत्ता नहीं रह गई है। (रहै कैसे) वहाँ तो नायिका के मुख की आभा से सदैव ही 'पूनो' (पूर्णिमा) रहती है। पूनो के अतिरिक्त सब तिथियाँ तो पत्रे ही में पड़ी हुई हैं, कभी प्रत्यक्ष देखने ही में नहीं आतीं।"

यह और ग़ज़ब हुआ। बेचारी आसपास की वियोगिनियो पर तो कहर टूट पड़ा ! 'नितप्रति' जब 'पून्योई' रहेगी तो वे जियेंगी कैसे ? और, अन्धकार पर तो ऐसी शामत आई कि लाख चेष्टा करने पर भी हज़रत चहारदीवारी के अन्दर न घुस सकेंगे।

नोट—'शृंगार-सप्तशतीकार' ने इस दोहे का संस्कृत-अनुवाद यों किया है :—

तव गृहमभिनाऽपुस्तकस्तिथिं कोपि जानाति।
यतः पूर्णचन्द्रानने पूर्णमैव निशिभाति।

अब एक संस्कृत-कवि की 'क़ाबिलदीद करामात' देखिये—

"तानि प्राञ्चि दिनानि यत्र रजनी सेहे तमिस्रापदं,
सा सृष्टिविरराम यत्र भवति ज्योत्स्नामयो नातपः।
अद्यान्यः समयस्तथाहि तिथयोऽप्यस्या मुखस्योदये,
हस्ताहस्तिकया हरन्ति परितो राकावराकी यशः॥"

अर्थात् 'वे दिन बीत गये जब रजनी, तमिस्रापद को प्राप्त थी—काली कहलाती थी। वह सृष्टि समाप्त हो गई जब आतप ज्योत्स्नामयी नहीं थी, धूप में चाँदनी नहीं उगती थी। यह तो कुछ दूसरा ही समय है। देखो न, उसके मुख के उदय होने से

बारी-बारी सब तिथियाँ 'राकावराकीयशः'—पूर्णिमा के यश को—सब प्रकार से लूटे लेता हैं !"

वाह ! कमाल कर दिया है। जो कुछ कहा जा सकता था, सब कह दिया गया—अब दूसरा कोई क्या कहेगा ? चारों ओर पूर्णिमा की रस-भरी ज्योत्स्ना का आनन्द लूटिये। अभीतक बात केवल रात की होती थी, जितने लोगों ने कहा, सब रात्रि के ही घेरे में सीमाबद्ध रह गये; पर आपने 'सासृष्टिर्विरराम यत्र भवति ज्योत्स्नामयो नातपः', कहकर धूप को भी चाँदनी में परिवर्तित कर दिया—सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश पर भी नायिका की 'मुख-द्युति' का वार्निश पेण्ट कर दिया—सूर्य का भी मान-मर्दन कर डाला !'

हाँ, अब ऊपर कही हुई उक्तियों की परस्पर तुलना कीजिये।

'रसनिधि' की नायिका बड़ी सुन्दरी है। 'कुहूनिसा' में चन्द्रमा की अनुपस्थिति में जब चारों ओर रात को अन्धकार रहता है तब, उसके 'मुख-ससि की चाँदनी' उदित होकर 'कुहूनिसा' की सत्ता मिटा देती है, उसे केवल पत्रा में बाँचने के लिये रहने देती है। इस उपकार के लिये म्युनिसिपैलिटी के रोशनी इन्सपेक्टर की ओर से उसे 'टू मेनी थैंक्स' !—कोटि-कोटि धन्यवाद !

अस्तु, जो हो (अब ज़रा ध्यान से इस दोहे की जाँच कीजिये।) 'रसनिधि' की नायिका के 'मुख-ससि' की चाँदनी केवल 'कुहू-निसा' में ही काम करती है—जब चन्द्रमा २६ दिन के कार्य से ऊब कर दूसरी दुनिया की सैर करने चला जाता है तो सुन्दरी रजनी पर मचल कर नायिका का मुख, ससि बनकर, रजनी देवी के पास जा पहुँचता है। कभी वियोग का अनुभव न रखनेवाली

सुन्दरी निशा,इस बनावटी निशाकर को ही पति समझ, आलिंगन करती है। इस प्रकार सच्चे चन्द्र की अनुपस्थिति में, पति-प्रेमोन्मादिनी रजनी को धोका देकर, 'रसनिधि' की नायिका का 'मुख ससि' बारह घण्टे के लिये अपना रोब जमा लेता है। इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा—इस तरह किसी सती-साध्वी को धोखा देकर उसका सतीत्व नाश करने का अपराध, जितना भयंकर हो सकता है, है। यदि नायिका का 'मुखससि' किसी वृहस्पति के पाले पड़ जायगा तो फिर उसमें भी 'कालिख' लग जायगी।

वास्तविक चन्द्रमा की अनुपस्थिति में यदि नायिका के 'मुख-ससि' ने इतनी रोबबन्दी कर ही ली कि एक रात के लिये उसे-धोके में सच्चे चन्द्र की मर्जादा प्राप्त हो गई तो क्या हुआ, अभी और तिथियाँ तो पड़ी ही हुई हैं। 'चार दिनों की चाँदनी फेर अँधेरी रात' वाला मसला तो हल हुआ ही नहीं।

हाँ, बिहारी की नायिका अलबत्तः जबरदस्त है। उसके 'आनन-ओप-उजास' से 'वा घर के चहुँपास नित प्रति पून्योई रहै' और इस प्रकार 'पत्रा ही तिथि पाइयतु'—केवल पत्रे ही में तिथियों की सत्ता रह गई है। उसकी मुख-दुति ने आसपास सदैव पूर्णिमा की सुषमा का समुत्पादन करके चन्द्र-कलाओं का महत्व नष्ट कर दिया है और तिथियो पर अपना अटल सिक्का जमाकर बरबस ही उन्हें पूर्णिमा के रूप में परिवर्तित कर दिया है।

रसनिधि की नायिका सीधी है, साफ़ है, अच्छी है, पर बिहारी की उससे भी अधिक रसीली है। उसकी करामात ने 'रसनिधि' की नायिका के 'मुख-ससि' पर काला धब्बा डाल दिया है। बिहारी, रसनिधि के, बहुत आगे बढ़ गये हैं।

अब बिहारी और संस्कृत कवि दोनों की नायिकाओं का सौन्दर्य परखिये। बिहारी की नायिका ने अपने मुख की सहायता से जगत् का इतना ही उपकार किया है कि 'वा घर के चहुँपास', 'नित प्रति पून्योई' कर दिया है; परन्तु संस्कृत-कवि की नायिका और भी अधिक मजेदार है। बिहारी की नायिका यदि जादूगरनी है तो वह पक्की योगिनी है। उसने अपने मुखोदय द्वारा सम्पूर्ण जगत् को अखण्ड चाँदनी से ढँक रखा है। वहाँ दिन-रात का भी भेद-भाव नष्ट हो गया है। धूप में भी चाँदनी घुस गई है, दिन में भी उसने रंग जमा लिया है। बात बहुत बढ़ गई है।

अब मीर की ओर लौटिये। यह हज़रत दीन हीन चन्द्रमा पर हाथ न उठाकर सीधे "खुरशीद'—सूर्य—पर ही टूटे हैं। उनको विश्वास है कि जिस दिन माशूक़ के मुँह से बुरक़ा हटेगा, उसके बाद सुनोगे कि सूरज फिर दुनिया में झाँकने नहीं आया।

संस्कृत-कवि की रचना में मामला बढ़ गया है। उसमें जबरदस्ती और शक्ति के दुरुपयोग की भी—यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो—थोड़ी-सी बू आ गई है। इतना ज़ोर मारने पर भी कसर रह ही गई। 'सा सृष्टिर्विरराम यत्र भवति ज्योत्स्नामयो नातपः' (वह सृष्टि गई जब आतप ज्योत्स्नामय नहीं था—धूप में चाँदनी नहीं दीख पड़ती थी) कहने से मालूम होता है कि इतनी तूल-तवील के बाद भी ज्योत्स्ना केवल आतप में मिलकर ही रह गई, मुख-चन्द्रिका ने धूप के रूप में थोड़ा घर कर लिया, पर धूप और ज्योत्स्ना दोनों ही का अस्तित्व बना रहा और यहाँ मीर के कथनानुसार तो सूर्य बेचारा, मुख-द्युति से

चकाचौंध होकर, स्वयं ही अपना-सा मुँह ले चम्पत हुआ—खुद ही समझ गया कि अब यहाँ मेरी दाल न गलेगी।

* * * *

८३—*वह जो खंजर बकफ़ नज़र आया,*
मीर सौजान से निसार हुआ।

अजीब पागलपन है! प्रेम-संसार में प्रियतम की कठोरता भी उसकी प्यारी अदा हो जाती है, अत्याचार भी मन छीन लेने के यन्त्र हो जाते हैं! कुछ अजीब बात है, विचित्र उन्मत्तता है!

मीर कहते हैं कि "मुझे वह ज्यों ही खड्गहस्त दिखाई दिया त्यों ही मैं उसपर सौ जान से निसार हो गया—रीझ पड़ा!'

वाह री उन्मत्तता! कोई तो खंजर लेकर मारने आता है और आप उसकी इस करतूत पर सौ जान से निसार हुए जाते हैं। क्राइस्ट' के सच्चे (अहिंसावादी) चेले तो मीर साहब ही निकले!

* * * *

८४—*न रक्खी मेरी ख़ाक भी उस गली में,*
कदूरत मुझे है निहायत सबा से।

मरने के बाद की हालत है। समझ लीजिये की मीर साहब मर गये हैं; किन्तु मरने के बाद भी उनमें बोलने की शक्ति है।

वह कहते हैं कि मुझे सबा से निहायत कदूरत है—सख्त शिकायत है; क्योंकि उसने मेरा सब परिश्रम व्यर्थ कर दिया, सारी मेहनत ख़ाक में मिला दी। इतनी कठिनता से मरकर मैं उसकी गली की ख़ाक हुआ था; किन्तु इस दुष्टा ने उसे भी वहाँ (उस गली में) न रहने दिया—उड़ाकर दूसरी जगह कर दिया!

'मीर' की क़िस्मत के साथ लेखक हार्दिक समवेदना प्रकट करता है!

❀ ❀ ❀

८५—ख़ाक थी मौजज़न जहाँ में और,
हमको धोका यह था कि पानी है।

'माया' की प्रत्यक्ष परिभाषा और उसका आन्तरिक रहस्य कवि ने बड़े अच्छे रूप में खोल कर दिखाया है। 'जो चीज़ हो तो कुछ और दिखाई पड़े कुछ' उसी का नाम हिन्दूदर्शन में 'माया' रक्खा गया है। वेदान्त में इस प्रकार के 'अध्यासवाद' की खूब विवेचना की गई है, बड़े-बड़े भाष्य लिखे गये हैं। सृष्टि की असारता का रहस्य समझने के लिये ये चीज़ें लाभदायक हैं। थोड़े में जिन्हें सन्तोष करना हो, वे मीर की बात पर विश्वास करें।

मीर कहते हैं:—"संसार में वस्तुतः चारों ओर थी तो धूल-राशि; पर मैं (अभी तक) इस धोके में पड़ा हुआ था कि यह पानी है।"

'हमको धोका यह था कि पानी है'—पहले धोका था, अब मीर को धोका नहीं है। (अब वह पूर्णरूपेण संसार की वास्तविक स्थिति समझ गये हैं। नामरूपजन्य मिथ्या आभास,* उनकी आँखों से दूर हो गया है।)

---

*दृश्य-प्रपञ्च की व्याख्या करते हुए 'पञ्चदशीकार' ने लिखा है:—

अस्तिभाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पंचकम्।
आद्यम् त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम—ये पाँच अंश हैं।

* * *

८६—लचक ने उसकी हमको मार रक्खा,
कटारी तो न थी उसकी कमर में ?

शृंगार-परिपूर्ण यह शेर भी कितना स्वाभाविक है। कमर की लचक ही तो रसिकता की जान है। मीर साहब फरमाते हैं कि उसकी कमर में कटारी तो नहीं थी जो लचक ने ही मुझे मार डाला ?

* * *

८७—क्या किया है फ़लक का मैं कि मुझे,
ख़ाक़ ही में मिलाये जाता है।

अर्थ साफ है। मीर साहब कहते हैं:--"मैंने आसमान का क्या अपराध किया है कि यह मुझे ख़ाक में मिलाये जाता है !"

नोट—उर्दू कवि आकाश को ही सब विपत्तियों का उत्पादक मानते हैं।

* * *

८८—'मीर' इन नीमख़ाब आँखों में,
सारी मस्ती शराब की सी है।

मीर साहब फरमाते हैं कि इन उनीदीं आँखों में जो मस्ती है वह ठीक शराब की भाँति है। (शराब पीने पर आँखें चढ़ जाती हैं--उनमें एक विशेष प्रकार की मस्ती और लालिमा आ जाती है)।

मीर तो यहीं तक रह गये, परन्तु एक उर्दू-कवि ने इससे आगे बढ़कर क्या ठीक कहा हैं :—

इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के और पिछले दो जगत् के रूप हैं। नाम, रूप की सत्ता मिट जाने पर जगत् का यह मिथ्या रूप हट जाता है और सत्य-रूप दिखाई पड़ता है।

मै में वह वात कहाँ जो तेरे दीदार में है,
जो गिरा फिर न कभी उसको सँभलते देखा।

अर्थात् शराव में वह वात कहाँ जो तेरी इन आँखों में है, तेरी आँखों की मस्ती से जो एक वार गिरा—पागल हुआ—फिर वह सँभलते हुए देखा नहीं गया !"

हिन्दी का एक प्रसिद्ध दोहा है :

अमिय, हलाहल, मदभरे, स्वेत, स्याम रतनार।
*जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक वार ॥**

अर्थात् तेरी इन स्वेत, श्याम, रतनार (रँगीली) आँखों में—देखता हूँ कि—अमृत, विप और मद तीनों भरे हैं—तीनों ही का विचित्र संमिश्रण हुआ है। (क्योंकि) ये जिसको एक बार (प्यार से) देख लेती हैं, वह व्यक्ति जीता, मरता और झुक-झुक पड़ता है !"

हिन्दी-साहित्य की यह सुधामयी सूक्ति किसी भी साहित्य की समानभाववाली कविता से टक्कर ले सकती है। शब्द-सौष्ठव, अर्थ-गाम्भीर्य, स्वभावोक्ति, अनुभव और अलंकारमयी योजना, सभी में अनूठापन है।

क्रमालंकार का इतना सरल, पर उत्कृष्ट, उदाहरण और कहीं देखने को शायद ही मिलेगा। पहले अमिय हलाहल और मदभरे कहकर फिर उसी क्रम से उनके रंगों की व्यवस्था कितनी अनोखी

---

* क्रमालंकार :—

अमिय	हलाहल	मदभरे
स्वेत	श्याम	रतनार
जियत	मरत	झुकि झुकि परत

है। अमिय का रंग स्वेत, हलाहल का श्याम और मद का रतनार (ललाई लिये हुए) क्रम से कहकर फिर उनके गुणों की तुलनात्मक योजना की है। (स्वेत) अमिय से जियत, (श्याम) हलाहल से मरत और (रतनार) मद से झुकि-झुकि परत कहकर कवि ने कमाल किया है।

*　　　*　　　*

८६—हस्ती अपनी हुबाब की सी है,
यह नुमाइश सुराब की सी है।

मनुष्य का जीवन ठीक इसी प्रकार है जैसे अपार सागर के तल पर बुलबुले होते हैं। बुलबुले से उपमा देने में कई खूबियाँ हैं। जो लोग प्रकृति-वादी हैं उनका कथन है कि विशेष प्रकार की स्थितियों के परस्पर संमिश्रण से जगत् की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होतीं और उन्हीं के संघर्षण से विनष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार सृष्टि का कार्य अपने आप चला करता है। मनुष्य की उत्पत्ति और विनाश का भी उनके मत से यही जवाब है। मानव-जीवन की उपमा बुलबुले से देने में इन लोगों के सिद्धान्त का भी खंडन नहीं होता। जैसे पंचतत्त्वो के विशेष स्थिति-जन्य पारस्परिक संयोग से मानजीवन का आविर्भाव और उनके अव्यवस्था-जन्य संघर्षण से नाश होता है उसी प्रकार आकाश, वायु और जल के विशेष प्रकारवाले संयोग से बुलबुले की भी उत्पत्ति होती है और उसमें जरा भी व्यतिक्रम होने से उसका अन्त हो जाता है।

दूसरी विशेषता, बुलबुले से मिसाल देने में, यह दीख पड़ती है कि जैसे बुलबुला, अगाध सागर का अखण्ड और अभेदभाव सूचक एक अंश है, मनुष्य भी अनन्त सृष्टि का अभेद-भाव-प्रव-

र्त्तक जीव है। बुलबुले में जैसे अपार सागर का आन्तरिक तत्त्व सूक्ष्म रूप से सन्निहित रहता है, छोटे बुलबुले में जैसे समस्त सागर का भाव हृदयङ्गम किया जा सकता है, मानव जीवन में भी उसी प्रकार अनन्ततत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है; सीमा-बद्ध इस मानव-शक्ति में हम चिरन्तन, व्यापकशक्ति, असीम सत्य-स्वरूप, विराट् वैभव को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ये सभी छोटी चीजें सूक्ष्म रूप में उस अनन्त शक्ति के रूपान्तर हैं। वस्तुतः इन सबमें वही अनन्तशक्ति व्याप्त है। जैसे बुलबुला, समुद्र से वस्तुतः अलग नहीं है वैसे ही मानव-सत्ता भी अनन्त से भिन्न कुछ नहीं। "नेहनानास्ति किंचन," "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपं बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूप रूपं प्रतिरूपो बहिश्च," "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयते" इत्यादि अनेकानेक श्रुतियाँ इस मत का समर्थन कर रही हैं।

उपर्युक्त सभी बातें सूक्ष्म रूप से मीर के 'हस्ती अपनी हुबाब की सी है', (हमारी सत्ता बुलबुले की भाँति अभिन्न, बाहरी दृष्टि से क्षणभंगुर, पर अनन्त, है) में आ गई हैं।

अब दूसरे चरण की जाँच कीजिये। 'यह नुमाइश सुराब की सी है,' यह 'दृश्य-प्रपञ्च' मृगतृष्णा के समान है, अर्थात् 'माया' है। सुराब—मृगतृष्णा—कहकर कवि ने थोड़े में बहुत भावों का एकत्र समावेश किया है। सुराब रहती तो कुछ है, और दिखाई देती है कुछ। कड़कड़ाती धूप में प्यास से व्याकुल शिथिल-दृष्टि होकर जब मृग चारों ओर देखता है तो दूर की बालुकाराशि लहराते हुए जल के सदृश दीख पड़ती है। यह ससार भी एक सुराब है, जिस रूप में हम इसे देख रहे हैं, वह इसका वास्तविक रूप नहीं है। आन्तरिक रूप-रहस्य तो तब दीखेगा जब नाम-रूप-

जन्य इस मायामय दृश्य-प्रपञ्च का असत्य परदा हमारी आँखों से दूर हो जायगा।

'यह नुमाइश सुराब की सी है,' इस पद में 'नुमाइश' शब्द बहुत मौज़ूँ हुआ है। 'नुमाइश' का ठीक-ठीक अनुवाद वेदान्त का 'दृश्य-प्रपञ्च' शब्द है।

* * *

९०—नाज़ुकी उसके लब की क्या कहिये,
पंखड़ी एक गुलाब की सी है।

अर्थात् उसके अधरों की कोमलता का क्या कहना! ऐसा जान पड़ता है, मानों गुलाब की एक पंखड़ी है।

गुलाब की पंखड़ी कहने में लालिमा भी आ गई और नाज़ुकी की बात भी हो गई।

* * *

९१—चश्मे दिल खोल उस भी आलम पर,
याँ की औक़ात ख़ाब की सी है।

मीर साहब कहते हैं—"मायाग्रस्त अज्ञानी जीव! ज़रा अपने दिल की आँखें (ये बाहरी आँखें नहीं) खोलकर उस दुनिया (परलोक) की ओर भी देख। यहाँ की अवस्था (जिसके फेर में तू भूला हुआ है) तो स्वप्न की नाईं है--क्षणभंगुर है—असत्य है।"

'याँ की औक़ात ख़ाब की सी है'—यहाँ की अवस्था स्वप्न-सी है, ऐसा हमारी शतशः श्रुतियाँ चिल्लाकर कह रही हैं। वेदान्त का मत है कि जैसे स्वप्न में हम जो चीज़ें देखते हैं, वे रहती तो असत् हैं, किन्तु स्वप्न की अवस्था तक वे सच्ची ही ज्ञात होती हैं। इसी प्रकार यह संसार (अज्ञानावस्था में) दीखता तो सत्य

है; किन्तु वस्तुतः इस दृश्यप्रपंच की यह आन्तरिक स्थिति नहीं है जो हम देख रहे हैं।

*　　*　　*

९२—दिला ! बाज़ी न कर इन गेसुओं से,
नहीं आसाँ खिलाने साँप काले।

"हृदय ! इन गेसुओं (अलकों) से छेड़ छाड़ न कर। क्या तू नहीं जानता कि काले साँपों का खिलाना आसान काम नहीं है !"

गेसुओं की उपमा काले साँपों से, कितनी मनोहारिणी हुई है !

हिन्दी कवियों ने भी वेणी की उपमा अनेक स्थानों पर सर्पिणी से दी है। देखिये :—

"मृगनैनी की पीठ पै वेनी लसै सुखसाज सनेह समोइ रही।
मनो कंचन के कदली-दल पै अति साँवरी साँपिन सोइ रही॥

*　　*　　*

९३—वह काला चोर है ख़ाले रुख़े यार,
कि सौ आँखों में दिल हो तो चुरा ले।

मीर साहब कहते हैं कि प्रियतम के कपोल का तिल, काला चोर है, पक्का डाकू है। यदि सौ आँखों की तह में भी दिल हो (अथवा दूसरा अर्थ यह कि 'जो सौ आँखों के बीच में दिल हो अर्थात् सौ आँखें भी यदि उसकी ओर लगी रहें—पहरा दिया करें) तो वह इतना आहिस्ता से उसे ले भागता है कि किसी को ख़बर भी नहीं होती।

सचमुच ख़बर नहीं होती मीर ! तुम सच कहते हो। जो मनुष्य किसी पर पागल हो, उससे पूछिये कि 'क्यों जनाब, आप

कब उसपर पागल हुए थे'—कभी वह बतला न सकेगा। मनुष्य का हृदय इतना तरल है कि कहा नहीं जा सकता। वह जितना गंभीर है, उतना ही कमज़ोर भी है; जितना कठोर है, उतना ही मुलायम भी है। वह इतना धीरे-धीरे दूसरे की ओर आकृष्ट होता है कि महीनों बाद बुद्धि को उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। तब पूर्णरूपेण उसका ज्ञान होता है, जब मनुष्य को विना उस व्यक्ति (अथवा वस्तु) से मिले, विना उसे देखे, बेचेनी होने लगती है।

❀ ❀ ❀

९४—अबके जुनूँ में फ़ासला शायद न कुछ रहे,
दामन के चाक और गरेबाँ के चाक में।

गरेबाँ, कुरते का वह भाग है, जिसे गला कहते हैं। इसी भाग में लोग बटन लगाते हैं। दामन का चाक, कुरते के उस कटे हुए भाग को कहेंगे जो नीचे कमर के पास, बग़ल में (प्रायः जेब के नीचे) होता है।

दीवाना, पागल होने पर उर्दू-साहित्य में वर्णित पागल प्रायः गरेबाँ' फाड़ा करते हैं—'गरेबाँ फाड़ता है तंग जब दीवाना आता है'। प्रायः सभी उर्दू-कवियों ने दिल, गरेबाँ और जुनूँ पर मज़मून बाँधे हैं, पर मीर का शेर ख़ूब हुआ है :

मीर साहब कहते हैं कि "मेरे पागलपन की जो गति है, यदि वह यों ही रही तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि शायद इस बार दामन और गरेबाँ के चाक में कुछ अन्तर न रहे। गरेबाँ का चाक और दामन का चाक दोनों मिल जाय। गले से लेकर दामन तक (सारा कुरता) फटा ही हुआ हो।"

उर्दू-जगत् में 'मीर' के इस शेर की बड़ी धूम है। उर्दू के

प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय मौलाना अलताफ हुसेन 'हाली' ने अपने 'दीवान हाली के मुक़दमे' में इस शेर को उद्धृत करके बड़ी तारीफ़ की है—ख़ूब आलोचना की है। उनका कथन है कि 'शुरू से आज तक सभी शायरों ने गरेबाँ के चाक और जुनूँ पर मज़मून बाँधे, मगर जो सादगी, जो फ़बन, मीर के इस छोटे-से जानदार शेर में है, सारे शायरों के दीवान खोज डालिये, वह कहीं मयस्सर नहीं होने की। मीर का तर्ज़ ही निराला है, बहुतों ने उसकी नक़ल करने की कोशिश कीं, बहुत ज़ोर मारा, पर सब नाकाम रहे। वह जो कुछ कह गया, उसके आगे और किसी का कलाम दिल में बैठता ही नहीं।'

है भी यही बात। लोगों ने बहुत ज़ोर मारा, मीर की ग़ज़लों की तर्ज़ चुरानी चाही, पर सभी बेतरह गिरे। मीर की रचना मानों ख़ुद ही ठुमककर इन गिरे हुए लोगों की ओर इशारा करके कह रही है—

मेरे तर्ज़े फ़ुग़ाँ की बुलहविस तक़लीद करते हैं।
*ख़िजल होंगे असर की भी अगर उम्मीद करते हैं॥**

कितना बढ़िया शेर है—

अबके जुनूँ में फ़ासला शायद न कुछ रहे,
दामन के चाक और गरेबाँ के चाक में।

यह पागलपन भी कितना भयंकर होगा बाबा, जिसका यह लक्षण है!

❀ ❀ ❀

---

* अर्थात् मेरे रोने के ढंग की नक़ल बहुतेरे लोलुप कर रहे हैं; यदि वे मेरे ही जैसे असर की भी आशा रखते हैं तो लज्जित होंगे।

९५—हुई सामने यों तो एक एक के,
हमीं से वह कुछ आँख शरमा गई।

'हमीं से वह कुछ आँख शरमा गई'—वाह! कितना अच्छा है। 'आँख शरमा गई' इतने अंश ने शेर में रूह फूँक दी है, जान डाल दी है।

आख़िर उनकी आँख (मेरे सामने आने पर) शरमा ही गई—लाख चेष्टा करने पर भी वे अपना प्यार न छिपा सके। शर्मीली आखें, प्यार का झण्डा हैं—जान हैं। जब सामने आया तो प्यार आ ही गया, नज़र मिलने पर मुरौवत आही जाती है। बेचारा क्या करता? जन्म-भर 'मीर' साहब उसके ऊपर जान देते रहे, फिर उसका इतना भी फल न होता? लाख चेष्टा करके भी वह अपनी शर्म को छिपा न सका—बात खुल ही गई। सामने आने पर शर्म से निगाह नीची हो ही गई! जो होना था—वह हुआ। प्रेमी के सामने भी कहीं दृढ़ता चली है?

❀ ❀ ❀

९६—हर चन्द मैंने शौक़ को पेनहाँ किया वले,
एक आध हरफ़ प्यार का मुह से निकल गया।

मीर साहब कहते हैं कि मैंने कितना ही अपनी उत्कण्ठा को रोका—बार-बार प्रयत्न करके छिपाने की चेष्टा की, पर सब मेहनत रायगाँ हुई, सारे किये-कराये पर पानी फिर गया—रोकते-रोकते प्यार के एकाध हर्फ़, दो एक बातें, मुँह से निकल ही गईं।

कितना ठीक अनुभव मीर का है। लाख चेष्टा करके भी कोई प्रेम छिपा नहीं सकता—आँखों की मस्ती, दिल की लगन, बात-चीत का ढंग, उत्कण्ठा, सब परदाफाश कर देती है—सारा रहस्य खोल देती है।

वहाँ तो ढंग ही कुछ और हो जाता है, बातचीत का तरीक़ा ही बदल जाता है। आँखों की बेकली ही सब कह देती है। कोई छिपायेगा क्या ?

❀ ❀ ❀

९७—*देखी थीं एक रोज़ तेरी मस्त अँखड़ियाँ,*
अँगड़ाइयाँ ही लेते हैं अब तक ख़ुमार में।

मीर साहब फ़रमाते हैं—"एक रोज़ तेरी मस्त आँखें देखी थी, तभी से आज तक ख़ुमार में पड़े-पड़े अँगड़ाइयाँ ले रहे हैं।"

'झुकि-झुकि परत जेहि चितवत एक बार' वाला मामला यहाँ भी दरपेश है! वहाँ तो 'झुकि झुकि परत' था, किन्तु यहाँ तो हज़रत को उठने ही की ताब नहीं है—तब से लेकर आज तक चारपाई पर पड़े-पड़े ऊँघ रहे हैं—करवटें बदल रहे और अँगड़ाइयाँ ले रहे हैं।

❀ ❀ ❀

९८—*मिलने के दिन जब आते हैं सुध बुध भूले जाते हैं।*
बेख़ुद हो जाते हैं हम तो देर बख़ुद फिर आते हैं॥

मीर साहब कहते हैं—"जब उनसे मिलने का दिन आता है तो सब सुध-बुध जाती रहती है—मैं बेख़ुद हो जाता हूँ। अपने होशहवास में ही नहीं रहता।"

कितनी तल्लीनता है!—कैसा अभूतपूर्व प्रेम है!!

❀ ❀ ❀

नीचे के कुछ शेरों में मीर ने अपना कार्यक्रम दिया है। देखिये, कैसे पागलपन की बातें हैं—

९९-१००-१०१—मैकशी सुबहो शाम करता हूँ।
फाक़ामस्ती मुदाम करता हूँ॥
कोई नाकाम यों रहे कब तक।
मैं भी अब एक काम करता हूँ॥
या तो लेता हूँ आह दिल में या।
काम अपना तमाम करता हूँ॥

मीर साहब की यह कार्यावली ही उनकी पागलपन-भरी मस्ती की सूचना देती है। जिसने प्रेम को ही जीवन का लक्ष्य मान रक्खा है, वह और करेगा क्या? संसार के लिये तो फिर उसका कुछ उपयोग नहीं है, मस्तिष्क और तर्क की योजना से संमिश्रित इस संसार के लिये तो वह बेकार है; क्योंकि हम जिस तार्किक दृष्टि से देखते हैं, उसके अनुसार वह अकर्मण्य है।

* * *

१०२—इस मंज़िल जहाँ के बाशिन्दे रफ्तनी हैं।
हर एक के याँ सफ़र का सामान हो रहा है॥

मीर साहब का कहना है कि इस संसाररूपी मंजिल के निवासी पथिक—चलनेवाले—हैं। (यह जो कुछ सामान दिखाई दे रहा है—उनको जो यह सब काम करते हुए तुम देख रहे हो) यह सब उस बड़े यात्रा की तैयारियाँ हैं जो उन्हें आगे तय करनी हैं।

संसार एक विस्तृत पथ है। हम सब लोग उसके पथिक हैं। हमारी यात्रा, हमारा सफर, यदि अनन्त नहीं तो अनन्त से छोटा जो कुछ हो सकता है, वह अवश्य है। जिस मंज़िले मकसूद का, जिस ईप्सित लक्ष्य का, यह महान् विश्व एक छोटा मार्ग-मात्र है, जरा सोचिये तो, वह लक्ष्य कितने अन्तर पर हो सकता है—कितना महान् हो सकता है। हम इस संसार में अपनी महान् यात्रा के मार्ग में, इस सराय में, चलते-चलते थककर

आराम कर रहे हैं। हमारा सामान चुक गया है। हमें दो काम करने पड़ेंगे। एक तो यह कि आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं को उचित परिमाण में अपने पास रख लेना पड़ेगा, और दूसरे यह कि हम इस सराय में अपने भविष्य का ध्यान रखकर सोवें। यह सोचकर आराम करें कि हमें आगे बहुत रास्ता चलना है। रात समाप्त होते ही, गगन पर उषा की लालिमा फैलते ही, यहाँ से कूच करना पड़ेगा। रात ही भर में सब काम भी कर लेना है और थोड़ा विश्राम भी।

एक बात और है। जो सफ़र का सामान हम कर रहे हैं उसमें एक बात का ध्यान ज़रूर रखना चाहिये। ज़रूरी-से-ज़रूरी चीज़ें ही जुटानी चाहिये। ऐसा न हो कि पानी लेना हम भूल जायँ और घी के लिये पहले ही दौड़-धूप करने लगें। याद रक्खो कि पानी की अनुपस्थिति में घी की कुछ महत्ता नहीं है। आटा-दाल-चावल-लकड़ी ले लो, मख़मल के गद्दे ही सजाने में रहोगे तो तड़प-तड़पकर मर जाना निश्चित है।

यही इस महान् यात्रा का रहस्य है। ठीक प्रकार से—सुव्यवस्थापूर्वक न होने पर पछताना होगा।

संसार-पथ के पथिको! मीर की चेतावनी न भूलो। ज़रा उसपर एक बार ध्यान दो।

*　　　*　　　*

१०३—जिसे शब आग-सा देखा दहकते,
उसे फिर ख़ाक हैं पाया, सेहर तक।

बिल्कुल साधारण बात है, जो प्रति क्षण हम अपनी आँखों देखा करते हैं। उसका रहस्य भी हम औरों को समझाया करते हैं—उपदेश भी दिया करते हैं—परन्तु यह सब होते हुए

भी हम उसका रहस्य नहीं समझते—उसका मूल्य परखने की हममें योग्यता नहीं है।

संसार परिवर्तनशील है। परिवर्तनशील क्या, एक प्रकार से कहा जा सकता है कि परिवर्तन ही संसार है; क्योंकि परिवर्तन के अतिरिक्त ससार की कोई सत्ता ही नहीं है। जो कल राजा थे, जिनके दरवाजों पर हाथियो की क़तारें, तोपों की सलामियाँ, सैनिकों के व्यवस्थित समूह साधारण लोगों को चकित करते थे, आज उन्हें भीख भी नहीं मिलती।* चार दिन पहले खिले हुए गुलाब मुरझाकर अपनी हीन दशा पर आँसू गिरा रहे हैं। 'जिसे शब आग सा देखा दहकते—उसे फिर ख़ाक पाया है सेहर तक'—'जिसे कल रात को आग-सा दहकते देखा था, उसे आज सवेरे धूल के रूप में पाया।' इस परिवर्तनशील संसार का यही रूप है !

हम अपने ऐश्वर्य-मद में मत्त हैं। हमारी शान, हमारा भोग-विलास, परिवर्तन के ही साँचे में ढला है—यह कोई सोचता है ? विलासिता का मद हमें क़ब्र की ओर खींचे लिये जा रहा है,† यह किसने सोचा है ? यदि हम इस परिवर्तन-रहस्य का

* 'बयाँ' का यह शेर कितना उम्दा है—

जिनके महलों में हज़ारों रंग के 'फ़ानूस' थे।
'झाड़' उनकी क़ब्र पर हैं और निशाँ कुछ भी नहीं॥

† अँगरेजी कवि 'ग्रे' का कथन है—

"The boast of heraldry, the pomp of pow'r
And all that beauty, all that wealth e'er gave,
Awaits alike the inevitable hour.
The paths of glory lead but to the grave.

सम्यक् प्रकार के अनुभव कर लें तो फिर संसार से सारा द्वेष, दंभ, छल-कपट अपना रास्ता पकड़े।

*　　　*　　　*

१०४—राह सबको है ख़ुदा से जान अगर पहुँचा है तू,
हों तरीक़े मुख़्तलिफ़ कितने ही मंज़िल एक है।

संसार में हम सैकड़ों सम्प्रदाय देख रहे हैं, आये दिन एक-न-एक मज़हब का आविष्कार हुआ करता है। प्रायः सभी एक दूसरे का खंडन करते और अपने-अपने रास्ते को ठीक कहते हैं। कोई द्वैतवाद को प्रत्यक्ष धर्म बताते हुए उसकी पुष्टि करता है, तो कोई अद्वैतवाद की ताईद कर रहा है। कोई शून्यवाद में व्यग्र है, तो कोई विशिष्टाद्वैत - द्वैताद्वैत (!) का राग अलाप रहा है। कोई मूर्ति-पूजा को प्रमाणित करने में व्यग्र है, तो कोई उसको वेद-विरुद्ध प्रमाणित करने ही में एड़ी-चोटी का पसीना एक किये हुए है। ऐसी अवस्था में साधारण मनुष्य कैसे निर्णय करे कि कौन-सी बात ठीक है, किस धर्म का हमें अवलम्बन करना चाहिये ?

'मीर' का शेर ऐसे ही व्यग्र-बुद्धि लोगों के लिये सान्त्वना-प्रदायक वाक्य है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहकर भगवान ने जिस मत की पुष्टि की थी, मीर ने भी प्रकारान्तर से वही कहा है।

कुछ वर्षों की बात है कि हिन्दी और अँगरेजी की कुछ पत्रिकाओं में इस विषय पर विवेचनात्मक लेख देखे गये थे। उनमें 'धर्मों का अपार्थक्य' सिद्ध करते हुए यह कहा गया था कि सब धर्मों के आन्तरिक तत्त्वानुशीलन-सम्बन्धी सिद्धान्त एक ही हैं। बात है भी ठीक—अनेक मार्गों का अवलम्बन करके

पथ-भिन्नता रखते हुए भी, जैसे एक लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है, वैसे ही विभिन्न और परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों की सहायता लेकर भी उस परम-तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

मीर साहब भी यही कहते हैं:—"यदि तू अपनेको बुद्धिमान् समझता है तो यह विश्वास कर कि सब लोग उस ख़ुदा की ही ओर जाने का उपदेश दे रहे हैं—सबका लक्ष्य एक ही है—केवल कार्यक्रम में भेद-भर है। ठीक उसी प्रकार, जैसे 'हों तरीक़े मुख़्तलिफ़ कितने ही मंजिल एक है' (कितने ही तरीक़े-रास्ते हों, पर मंजिल एक ही है—पहुँचना सबको एक ही जगह है), यह भेद-भाव तो बाहरी दृष्टि से दीख पड़ता है। आन्तरिक सिद्धान्त तो एक ही है।

शायद इसी भाव से प्रेरित होकर किसी सहृदय उर्दू-कवि ने कहा है, और कितना बढ़िया कहा है—

ख़ुदा ख़ुदा न सही राम राम कर लेंगे।
मिलेगा राह में काबा सलाम कर लेंगे॥

❀ ❀ ❀

१०५—बारीक वह कमर है ऐसी कि हाल क्या है।
जो अक्ल में न आवे उसका ख़याल क्या है॥

कमर का पतला होना, कवि लोग सौन्दर्य का लक्षण मानते हैं। कमर की बारीकी पर जितनी ही अधिक सूक्ष्मता-प्रदर्शक उक्ति हो, वह उतनी ही उत्तम कही जायगी।

मीर साहब कहते हैं कि वह कमर इतनी बारीक है कि क्या कहा जाय—भला जो वस्तु बुद्धि की हद से बाहर हो उसका ख़याल करके क्या होगा ?

कमर की सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है! 'जो अक़्ल में न आवे

उसका ख़याल क्या है' कहकर 'मीर' ने इतना कह डाला है, जिसके आगे कोई कुछ कह ही नहीं सकता। कल्पना अथवा बुद्धि के ही बल पर तो कवि जो कुछ कह सकता है—कहता है, किन्तु यहाँ तो उस कमर की सूक्ष्मता, बुद्धि के परे है—परमतत्त्व की भाँति अज्ञेय है, फिर उसकी उपमा कैसी !

हिन्दी, संस्कृत और उर्दू के अन्य कवियों की करामत भी देखिये। पहले संस्कृत-कवियों की सूक्तियाँ लीजिये। पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं :—

जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा—
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो,
विसन्देहं चेतोऽजनि गरुड़केतोः प्रियतमे!

और भी—

अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणित महायुक्ति निवहै-
निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।
असत्ख्याति-व्याख्यादिक चतुरिमाख्यात महिमा-
ऽवलग्ने लग्नेयं सुगतमत सिद्धान्त-सरणिः॥

अर्थात् बौद्ध दार्शनिकों के शून्यवाद को जब बड़े-बड़े धुरन्धर प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों (शंकर, वाचस्पति इत्यादि इसका खंडन ज़ोरों से कर गये हैं) की (अकाट्य युक्तियों की) मार से दुनिया में कहीं जगह न मिली तो वह (शून्यवाद) तुम्हारी (लक्ष्मी की) कटि में जाकर समा गया, 'असत्ख्याति' तुम्हारी कमर में जा छिपी। अब उसे कोई पा नहीं सकता, क्योंकि जब आश्रयस्थान ही दिखाई नहीं देता, जब उसी का पता नहीं है तो उस आश्रय-(यहाँ कटि) में छिपी हुई (आश्रित—यहाँ 'असत्ख्याति') वस्तु

का पता कैसे लग सकता है। जब आधार ही गधे की सींग की भाँति अदृश्य है, तब आधेय कहाँ खोजा जाय ?

मतलब यह कि हे लक्ष्मी ! तुम्हारी कटि का पता नहीं है। 'असत्ख्याति' वा शून्यवाद जैसे दीख नहीं पड़ता—जैसे वह शून्य है, वैसे ही तुम्हारी कमर भी असत् है, शून्य है। शून्यवाद तो मानों अब तुम्हारी कटि में ही है (अर्थात् केवल तुम्हारी कटि ही शून्य है), दुनिया में और तो कहीं वह दीख नहीं पड़ता—शायद तुम्हारी उस शून्य कमर में समाया हुआ हो !

पण्डितराज अपने ढंग के अनोखे थे, उनकी शब्दयोजना, उनकी शैली, उनकी मधुरिमा और उनकी धारा ख़ास उन्हीं की चीज़ है। ये विशेषताएँ संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों को भी नसीब न हुई। भाषा में गजब का जोर है। शब्दों में मिसरी की डली छुपी होती है। भाषा का प्रवाह और वर्णन की निर्भीकता में तो शायद ही कोई सामने ठहर सके। यह उसी निर्भीकता का फल है कि जगज्जननी की कटि पर भी कलम चलाने में हिचक न हुई !

उक्ति अपने ढंग की अनोखी है। कवि की प्रतिभा की झलक स्पष्ट दीख पड़ती है।

'वेङ्कटाध्वरि' संस्कृत के एक प्रतिभाशाली (पर अप्रसिद्ध) कवि हुए हैं। यह 'नीलकण्ठ' (संस्कृत के प्रसिद्ध कवि) के सहपाठी थे। इनका समय १६४० ई० के आसपास है। 'लक्ष्मी-सहस्र' इनकी सबसे उत्तम, पर क्लिष्ट, रचना है। लक्ष्मी के ऊपर संस्कृत-साहित्य में जितने स्तुति-काव्य हैं, कहा जा सकता है कि कविता की दृष्टि से 'लक्ष्मी-सहस्र' उनमें सबसे श्रेष्ठ है। वेङ्कटाध्वरि ने भी लक्ष्मी की कटि का वर्णन किया है। देखिये—

परमादिषु मातरादिमं यदिदं कोषकृताह मध्यमम् ।
अमरः किल पामरस्ततः सवभूव स्वयमेव मध्यमः ।।

कितना उत्तम वर्णन है। श्लेप की भी .खूब वहार है। 'अमर' (कोषकार) की तो पूरी मरम्मत हो गई।

रचना क्लिष्ट है, वहुतेरे लोगों की समझ में न आवेगी, अतएव अर्थ लिख देना भी हम उचित समझते हैं।

कवि कहता है—"हे देवि ! तुम्हारी कटि संसार के आदि-भूत परमाणुओं से भी सूक्ष्म है।

कमर की इतनी अधिक सूक्ष्मता उसकी सर्वोत्कृष्टता, उत्तमता की परिचायिका है, क्योंकि यह मध्य भाग—कमर—परमादि (उत्तमों में भी उत्ताम) वस्तुओं में भी आदिम (श्रेष्ठ, उत्तम) है।

किन्तु 'अमर' (कोषकार) को यह समझ कहाँ ? उसने ऐसे उत्ताम कटि को 'मध्यम' (नीच एवं मध्य में 'मकार' (संयुक्त) कह डाला। वह यही समझता है कि यह मध्यम, परमादि (अन्त्य 'मकार' संयुक्त) शब्दों में आदिम (आदि 'मकार' संयुक्त) है।

अर्थात् जैसे परम, चरम इत्यादि शब्दों के अन्त में 'म' है वैसे ही 'मध्यम' में भी है—उनसे इसमें विशेषता यह है कि यह आदिम है (क्योंकि इसके आदि में भी 'मकार' है।)

देवि ! तुम्हारी ऐसी सर्वोत्ताम कटि को मध्यम (नीच) कहने का फल कोषकार अमर को .खूब भोगना पड़ा। उसने तुम्हारी कटि को 'मध्यम' कहा, इसका फल यह हुआ कि वह स्वयं ही 'मध्यम' (मध्य 'मकार' संयुक्त) हो गया। कहाँ तो वह पहले 'अमर' (देवता) था—स्वर्ग में सुख भोगता था, और कहाँ तुम्हारी इस निन्दा के पाप का फल पाकर मध्यम (मानव-लोक में आकर मनुष्य) बन गया। देवि ! तुम्हारी शक्ति से

अपरिचित मदमत्त चला तो था तुम्हें 'मध्यम' (मध्य 'मकार' युक्त) कहने, पर वह स्वयं 'मध्यम' ('अमर' शब्द के मध्य में 'म' है) हो गया। तुम्हारा मध्यम (कटि-भाग) तो मध्य में मकारवाला नहीं हुआ; (क्योंकि उसके मध्य में तो 'म' न होकर 'ध्य' है); परन्तु वह मदमत्त अमर (अमर-कोषकार) स्वयं ही मध्यम (मध्य 'मकार' युक्त) हो गया। इतना ही नहीं, वह 'पामर' बन गया) क्योंकि पहले देवलोक † में था अब मनुष्य-लोक में आकर देवत्व से च्युत हो गया।)

कितना बढ़िया वर्णन है! श्लेष की मजेदार बहार देखनी हो तो इसे देखिये। भाषा पर इस प्रकार का अनोखा अधिकार कम लोगों में देखा गया है।

नैषध में श्रीहर्ष ने भी एक स्थान पर कटि का बड़ा बढ़िया वर्णन किया है, किन्तु यहाँ विस्तारभय से उसको व्याख्यापूर्वक देना मैं उचित नहीं समझता। संकेत मात्र नीचे टिप्पणी में दे दिया जाता है।❀

संस्कृत-कवियों की करामात तो देख चुके, अब ज़रा उर्दू और हिन्दी कवियों का हाल देखिये—

उर्दू के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय 'अकबर' कहते हैं :—

कहीं देखा न हस्ती[1] वो आदम[2] का इश्तराक़[3] ऐसा,
जहाँ में मिस्ल रखती ही नहीं उनकी कमर अपना।

---

† यहाँ 'अमर'—देवार्थवाची है

❀देखिये—"सदसत्संशयगोचरोदरी।"
"ईशाणिमैश्वर्य–विवर्तमध्ये!"—(नैषध)

१—हस्ती = भाव। २—आदम = अभाव। ३—इश्तराक़ = संयोग।

अर्थात् "कहीं भाव और अभाव का ऐसा एकत्र संयोग दिखाई नहीं दिया—उनकी कमर संसार में अद्वितीय है, उसका कोई जोड़ नहीं।"

ऐसा कहकर 'अकबर' ने बड़े भारी आश्चर्य की उत्पत्ति की है। भाव और अभाव का एकत्र संयोग तो असंभव है। या तो कोई वस्तु है या नहीं है—(या शुबहे में है) पर दोनों बातें कैसे हो सकती हैं?

अब, हिन्दी-कवियों की क़लाबाज़ी देखिये। 'भूषण' कहते हैं:—

"सौंधे को अधार, किसमिस जिनको अहार, चार को सो अंक लंक, चन्द सरमाती हैं।" —'शिवाबावनी'।

भूषण कहते हैं—"उनकी कमर इतनी पतली है जैसे चार के अंक का मध्य भाग!"

नोट—४—में चार का मध्य भाग ऐसी पड़ी—रेखा के द्वारा काट कर दिखाया गया है।

बिहारी ने भी ख़ूब कहा है—

** बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ।*
सूछम कटि परब्रह्म लौं अलख लखी नहि जाइ॥

"वह सूक्ष्म कटि परब्रह्म के समान 'अलख' है। श्रुति (कान और वेद-वाक्य) द्वारा सुनते हैं कि क़मर है। (श्रुति—

---

* याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्म-साक्षात्कार का उपाय बताते हुए जो चार श्रेणियाँ बताई थीं—बिहारी ने 'बुधि, अनुमान, प्रमान, श्रुति' कहकर उसी का प्रतिपादन किया है। मूल्य श्रुति यों है:—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

वेदवाक्य यह भी बतला रहे हैं कि परब्रह्म है) सुनने के बाद अनुमान करते हैं कि ऐसा हो सकता है या नहीं ? इसके बाद प्रमाण सोचते हैं कि कटि के बिना धड़ ठहरेगा किस पर ? (दूसरी ओर यह सोचते हैं कि संसार का आधार कौन है ? कौन उसे व्यवस्थित रूप में चलाता है) ऐसा सोचकर उस अलख (कमर और परब्रह्म) दोनों को बुद्धि द्वारा निरन्तर अभ्यास करके कल्पना के बल पर स्थिर करते हैं। तब कुछ होता है, पर वह 'अलख' ही बनी रहती है। परब्रह्म से जैसे साक्षात्कार नहीं होता वैसे ही लाख चेष्टा करने पर भी कमर का कुछ आभास नहीं मिलता "

निस्सन्देह बिहारी ने कमाल किया है। पण्डितराज और वेङ्कटाध्वरि— किसी की उक्ति से; किसी अंश में भी, बिहारी पीछे नहीं रहे हैं, वरन् कुछ अंश में आगे ही बढ़ गये हैं।

कविश्रेष्ठ 'शंकर' कहते हैं—

पास के गये पै एक बूँद हू न हाथ लगै,
दूर सों दिखात मृगतृष्णिका में पानी है।
'शंकर'-प्रमाण सिद्ध रंग को न संग पर,
जानि परै अम्बर में नीलिमा समानी है।
भाव में अभाव है अभाव में धौं भाव भरयो,
कौन कहै ठीक बात काहू ने न जानी है।
जैसे इन दोउन में दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरी कमर की अकथ कहानी है॥

'शंकर' का यह कवित्त भी किसी की उक्ति से कम नहीं है। कहते हैं—"दूर से तो मृगतृष्णिका में पानी दिखाई देता है;

किन्तु पास जाने पर एक बूँद भी हाथ नहीं लगता। यह बात भी प्रमाण-सिद्ध है कि आकाश में रंग का संयोग नहीं है; परन्तु देखने में सदैव ऐसा ही मालूम होता है मानों उसमें नीलिमा समाई हुई है। जान नहीं पड़ता कि क्या बात है। भाव में अभाव है अथवा अभाव में भाव है। जैसे आज तक ये दोनों बातें द्विधा में पड़ी हुई हैं—कोई न तो ठीक बात जानता है और न तो आज तक किसी ने निःसंशयात्मक रूप से कुछ कहा ही है। यही हाल तेरी कमर का भी है। उसकी कहानी भी 'अकथ' है, फिर कोई क्या कहेगा?"

और देखिये। 'चन्द्रशेखर' कहते हैं—

"जौ कहिये मन की गति तो मन सों न रहै थिर एक घरी है।
लोक कहै जिमि ब्रह्म है सूछम त्यों अनुमानि कै मानि परी है॥
देखि परै न कहूँ दरसै परसै परमानु लौं जानि परी है।
भावती की कटि मैं करतार करी केहि भाँति धौं कारीगरी है॥

'चन्द्रशेखर' का यह छन्द भी निराला ही है। 'भावती की कटि मैं करतार करी केहि भाँति धौं कारीगरी है'—आखिर मामला अनिश्चित ही रहा।

सैयद ग़ुलाम नबी (रसलीन) अपने 'अंग-दर्पण' नामक नखशिख-ग्रंथ में फ़रमाते हैं—

सुनियत कटि सुच्छम निपट, निकट न देखत नैन।
देह भये यों जानिये, ज्यों रसना में बैन॥

अपूर्व दोहा है। जहाँ संस्कृत, हिन्दी और उर्दू के धुरन्धर-से-धुरन्धर कवि माथा-पच्ची करके शुबहे में ही पड़े रहे वहाँ सैयद साहब ने उसके 'रस' में 'लीन' होकर कुछ न-कुछ निर्णय कर ही डाला। कितना अच्छा कहा है—"अर्थात् लोगों से सुनता

हूँ कि कटि 'निपट सुच्छम' है; किन्तु आँखों से तो कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। तब ? तब क्या मान लें कि कटि है नहीं ? नहीं, ऐसा तो हो नहीं सकता; क्योंकि यदि कटि है नहीं तो धड़ इत्यादि ठहरे किसके सहारे हैं ? जरूर कटि है। तब फिर वह दिखाई क्यों नहीं देती ? (देह के होने से मालूम तो होता है कि कटि भी अवश्य कुछ-न-कुछ होगी, पर जो चीज़ है वह दीखनी भी तो चाहिये न ?) सुनिये, वह है तो, पर दीख नहीं पड़ेगी ! (क्यों, इसका प्रमाण ?) जैसे रसना में बैन तो है (इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, प्रमाण की ज़रूरत नहीं); पर उसे देख नहीं सकते, वैसे ही देह होने से ऐसा तो जान पड़ता है कि कमर कुछ है अवश्य पर वह दीखती नहीं।"

'रसलीन' का यह दोहा 'शंकर' के सामने रखकर कहिये कि "महाराज ! 'रसना में बैन' के इस उदाहरण में 'भाव में अभाव है, अभाव में धौं भाव भर्‍यो' वाला शुबहा रफा हुआ या नहीं ! लीजिये इस उक्ति को वापस !"

'चन्द्रशेखर' महाराज की एक उक्ति और है। उसे भी सुन लीजिये—

"भूतन की प्रीति है कि नीति अविवेकिन की,
कायर की जीति है कि भीति असिधारी की।
गनिका को नेह कैधों दामिनि की देह किधौं,
कामिनी की मान बानि काम उर वारी की॥
'सेखर' पलास के प्रसून की सुगंधि कैधों
सील कुलटानि को कि सत्य व्यभिचारी की।
पाहन को पंक है कि अङ्क को अकार किधौं
रंकन को दान है कि लंक प्रानप्यारी की॥

जो हो, पर 'मीर' की उक्ति भी निराली है। सीधे-सादे थोड़े-से शब्दों ही से उसने मामला निपटा दिया है उसके कुछ न कहने में भी 'सब कुछ' है। व्यर्थ के झगड़े बढ़ाने से क्या फ़ायदा !

'कमर' पर उर्दू-कवियों के कुछ और शेर देखिये—

१—पटका बँधा रहा तो गुमाँ था हमें कि हो,
खुलने से खुल गया कि निशाने कमर नहीं।

—सईद।

२—कहता है कोई बाल उसे कोई रगे गुल,
कुछ मैं भी कहूँ, तेरी कमर जो नजर आवे।

—हैफ़।

३—मादूम को क्यों कर कोई साबित करे अल्ला,
मज़मून कमर यार का उनका से नहीं कम।

—निज़ाम।

४—तुम्हारे लोग कहते हैं कमर है,
कहाँ है किस तरह की है किधर है ?

—आबरू।

५—यह भी उस नाज़ुक बदन को बार हो,
गर कमर बाँधे नज़र के तार से।

—ज़ौक़।

६—दीदे कमरे यार की मुश्ताक़ हैं आँखें,
हस्ती में तमाशाए अदम मद्दे नज़र है।

—आतिश।

* * *

१०६—वह नहाने लगा तो सायए ज़ुल्फ़,
बहर में तू कहे कि जाल पड़ा।

जुल्फों की पेंचीदगी—अलकों के घुमाव—का वर्णन है। उर्दू कवि जुल्फों के वर्णन में प्रायः दो बातों का ध्यान रखते हैं। एक तो उसकी कालिमा की गुरुता का, और दूसरी उसकी पेंचीदगी का। कालिमा के लिये तो रात से—ज़ुल्मत से—उपमा देते हैं, और पेंचीदगी के लिये जाल, या दूसरा जो कह सकें, कहते हैं—पर प्रायः जाल से ही बाँधते हैं; क्योंकि 'मुर्गेदिल'—हृदय पक्षी—के फँसाने के लिये जाल का काम ये ज़ुल्फें करती भी हैं।❀

मीर साहब के प्रियतम बहर (सागर अथवा यहाँ थोड़ी देर के लिये नदी मान लीजिये) में स्नान करने उतरे हैं। मीर साहब दूर कहीं कोने में खड़े हसरत-भरी नजरों से उनको देख और अपनी बदकिस्मती पर चार आँसू गिरा रहे हैं। उनके प्रियतम ने स्नान आरंभ किया। उस समय उनकी ज़ुल्फों की छाया जल में पड़ी। चट मीर साहब को एक उक्ति सूझ गई। आप कह उठे—"ओह! यह तो समुद्र में जाल डाला गया है!"

मालूम नहीं कि किस सागर में सचमुच जाल पड़ा। उस समुद्र में अथवा 'मीर' के हृदयस्थ स्नेह-सागर में?

❀ ❀ ❀ ❀

१०७—जब कि पहलू से यार उठता है।
दर्द बेइख्तियार उठता है॥

❀ किसी कवि का एक उम्दा है—

गन्दुमी रंग भी है ज़ुल्फ़सियहफ़ाम भी है।
मुर्गे दिल क्यों न फँसे दाना भी है दाम भी है॥

आह ! इस शेर में वेदना और अनुभव का कैसा एकत्र संयोग है। सीधे-सादे इन पाँच-सात शब्दों में हृदय के आन्तरिक भाव कैसी ख़ूबी से व्यक्त किये गये हैं। 'जब तक पास प्राण-प्रिय रहते हैं तब तक तो हृदय एक प्रकार के अपूर्व सुख का अनुभव करता है, किन्तु उनके उठते ही कलेजे में असीम वेदना होने लगती है, हृदय घबड़ाने लगता है।'

❀ ❀ ❀

१०८—तबीबों ने तजवीज़ की मर्गे आशिक़,
मरज़ की मुनासिब दवा क्या निकाली।

एक वियोगी और निराश प्रेमी के लिये—जिसके जीवन का उद्देश्य ही प्रेम करना हो गया है—संसार में रहना फ़जूल है। निष्ठुर प्यारे के अत्याचारों के कारण तो उसका जीवन दूभर हो जाता है—वह चलते-फिरते भी मृत के समान है।

मीर साहब कहते हैं—"तबीबों ने—वैद्यों डाक्टरों ने—मुझ रोगी को देखकर इस रोग का निदान बताया मेरी मृत्यु ! आह ! इस मर्ज़—रोग—की कैसी मुनासिब दवा उन्होंने बताई !"

पर, मीर साहब ! आप भूलते हैं। इतना उछलिये न; कौन जानता है कि इस दवा से आपका मर्ज दूर ही हो जायगा ? ज़रा कान देकर सुनिये, आपके एक दूसरे 'क्लासफ़ेलो' क्या कह रहे हैं—

"अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जायेंगे।
मर के भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे॥

बोलिये ? ज़रा सोच लीजिये कि यदि दवा कारगर न हुई तो ?

❀ ❀ ❀

१०६—उस रश्के आफताब को देखे तो शरम से।
माहे फ़लक न शहर में मुँह को दिखा सके॥

मीर साहब कहते हैं—"सूर्य की भी निन्दा करनेवाले उस चेहरे को यदि (आकाश का) चाँद देख ले तो फिर (लज्जा के मारे, अपनी हीनता का अनुभव कर) कभी अपना मुँह इस शहर में न दिखावे।"

भाई चाँद ! अब तुम्हारी खैरियत नहीं दीख पड़ती। अगर अपनी लाज रखनी हो, तो अभी से—यह शहर छोड़—कहीं चम्पत होओ। यदि कभी सामना हो गया तो व्यर्थ बेइज्जती की गठरी सर पर रखनी पड़ेगी।

* * *

११०—रहते हो तुम आँखों में फिरते हो तुम्हीं दिल में।
मुद्दत से अगरचः याँ आते हो न जाते हो॥

प्रेम जब प्रौढ़ होते-होते पूर्ण होकर प्रणय के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब सच्चा प्रेमी अपने हृदय में चारों ओर अपने प्रियतम की ही झलक देखता है। प्रेम पूर्ण हो जाने पर मनुष्य की अवस्था ठीक जीवन्मुक्त मनुष्य-सी हो जाती है। उस समय वियोग संयोग का रूप धारण कर लेता है। चारों ओर सम्पूर्ण सृष्टि को वह अपने प्राणेश की ही विभूति समझता है। वह सदैव आनन्द का उपभोग करता है। उसका आनन्द, उसकी सत्ता, उसका संयोग सब नित्य हो जाते हैं।

यह तो बहुत ऊँची अवस्था है, इसे जाने दीजिये। इससे अत्यन्त साधारण अवस्था में—अपने प्यारे के प्रेम में डूब जाने पर भी वियोग का अनुभव नहीं होता। जब देख रहा हूँ कि

आँखों में वही रम रहा है, दिल में वही समाया हुआ है; जब आँखें मूँदकर कुछ सोचते ही वह मूर्ति सामने आ जाती है, तब फिर वियोग का दुःख कहाँ ! यदि दुःख की अनुभूति होती भी है तो, बहुत थोड़ी ।

मीर साहब का उपरिलिखित शेर, इसी अवस्था का जीता-जागता चित्र है । वह कहते हैं:—"हृदयेश ! यद्यपि तुम बहुत दिनों से मेरे यहाँ नहीं आते, तथापि (तुम्हारा ध्यान करते-करते मुझमें इतनी संलग्नता आ गई है कि) मैं देखता हूँ, अनुभव करता हूँ कि तुम मेरे हृदय ही में बैठे हो, आँखों में चहलकदमी कर रहे हो !"

वाह ! कितनी तल्लीनता है ?

* * *

१११—छाती जला करे है सोजे दरूं बला से ।
एक आग सी लगी है क्या जानिये कि क्या है ?

किसी अनुभवी से पूछिये कि 'प्रेम में क्या होता है भाई ! इस रोग का क्या लक्षण है ?' तो भला वह क्या जवाब देगा ? किसी से प्रेम करने में हृदय को किस प्रकार की अनुभूति होती है, इसे कोई भी व्यक्त नहीं कर सकता ।

मीर साहब कहते हैं—"हृदय की आन्तरिक अग्नि से रात-दिन छाती जलती रहती है । कलेजे में एक आग-सी लगी हुई है । मालूम नहीं, यह क्या है ?"

मीर के कलेजे में दर्द है, वह छटपटा रहा है । बेवकूफ डाक्टर प्रश्न करता है कि क्या बात है भाई, कुछ बताओ तब तो इलाज किया जाय ? मीर की तो जान निकल रही है । वह तो स्वयं

नहीं समझ रहा है कि क्या बात है। घबराकर वह कहता है :—"भाई, जान मत खाओ, मैं तो स्वयं तुमसे पूछ रहा हूँ कि यह कौन रोग है ? आह ! कलेजे में एक आग-सी लगी हुई है, मालूम नहीं कि क्या है ?"

शेर के प्रत्येक शब्द में वेदना स्वयं मूर्त्तिमन्त होकर आ विराजी है। कलेजा मुँह आने लगता है। ठीक इसी भाव का किसी दूसरे उर्दू-कवि का एक शेर है —

"शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफ़ता ,
एक आग सी है दिल में हमारे लगी हुई।"

बिल्कुल वही चीज़ है।

❀ ❀ ❀

११२—"हमे तौरे इश्क़ से तो वाक़िफ़ नहीं है लेकिन ,
सीने में जैसे कोई दिल को मला करे है !"

'हम प्रेम के लक्षण को तो नहीं जानते, पर ऐसा मालूम होता है, जैसे सीने में कोई दिल को मला करता है।'

'सीने में जैसे कोई दिल को मला करे है'—कहकर तो कवि ने शतगुणी वेदना की वृद्धि की है।

मीर के इस भोलेपन का अनुवाद करने में सारा मज़ा बिगड़ जायगा, क्योंकि उसके शब्द चमत्कार से भरे हुए नही, दिल की चीख हैं। उसके शब्दों ही में कुछ मज़ा है। 'मला करे है'—कितनी मुलायम शब्द-योजना है। पढ़ते समय सचमुच कोई दिल को मलने लगता है।

बिहारी के 'क्यों दल-मलियत निरदई' को 'क्यो दिल मलियत निरदई' कर दीजिये तब देखिये कि कितनी वेदना है !

*   *   *

११३—हम इज्ज़ से पहुँचे हैं मक़सूद की मंज़िल को।
वह ख़ाक में मिल जावे जो उससे मिला चाहे॥

परमतत्त्व-प्राप्ति के लिये भक्ति के जितने भी मार्ग हैं, उनमें दास-भाव की भक्ति ही साधारणतः सबसे उपयोगी है, क्योंकि उसे प्रायः सब लोग आसानी से कर सकते हैं। 'दासोऽहं' (मैं—तुम्हारा दास हूँ) का पूर्ण रहस्य ज्ञात होने पर—निरन्तर अभ्यास करते रहने पर—अन्त में इसकी समाप्ति 'सोऽहं' (मैं ही वह हूँ, अथवा मैं वही हूँ) में जाकर होती है। 'दासोऽहं' का 'दा, ग़ायब हो जाता है।

मीर का भी यही अनुभव है। वह कहते हैं—"हम उस ध्येय तक दीनता के मार्ग से होकर पहुँचे हैं। जो कोई भी उससे मिलना चाहे, धूल में मिल जाय।"

कितना तत्त्वपूर्ण उपदेश है, कैसी भली और ठीक चेतावनी है। 'वह खाक में मिल जावे जो उससे मिला चाहे' इसी पादार्द्ध में रूपान्तर की स्पष्ट व्याख्या मौजूद है। इतने छोटे वाक्य में ही मुक्ति-प्राप्ति का रहस्य सूत्ररूपेण कह डाला गया है।

जो उस अनन्त में लीन होना चाहता है, उसे तो 'खाक़ में मिलना' (अपनी वर्तमान सत्ता का रूपान्तर करना) ही पड़ेगा। पानी का बुलबुला बिना टूटे हुए ही अपनी सत्ता को अपार सागर के रूप में कैसे परिणत करेगा? अपनी इस वर्तमान अवस्था को धूल में मिलाकर—नष्ट कर देने पर—ही तो मुक्ति होगी? तभी तो हम अनन्त होंगे? तभी हम 'मक़सूद' (उद्देश्य, लक्ष्य) की 'मंजिल' तक पहुँच सकेंगे न?

*   *   *

११४—क्या सीने के जलने को हँस हँस के उड़ाता हूँ।
जब आग कोई घर को इस तौर लगा जाने॥

पहला चरण शुरू से अख़ीर तक—सोलह आने—भयंकर पागलपन की प्रतिमूर्ति है। पिछले शेर में वेदना थी, पर इसमें देखता हूँ कि निरन्तर के वेदना-प्रहार से मीर का कलेजा छलनी हो गया है, अब धीरे-धीरे उसका माथा भी घूम रहा है। पहले तो धीर-गंभीर भाव से केवल रोया ही करता था, पर अब पागलपन का भी कुछ रंग दिखाई देता है। अब वह रोते-रोते हँसने भी लगता है!

पागल मीर के पागलपन का सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि वह खुद अपनेको पागल नहीं समझता। उसकी दृष्टि में उसका कार्य श्लाघ्य है। देखिये, वह स्वयं ही कहता है—"वाह! मैं सीने की जलन को किस चालाकी से हँस-हँसकर उड़ाता हूँ। इस अनोखी तरकीब से जब कोई अपने घर को जलावे, तब मैं उसे कुछ समझूँ!"

नहीं हज़रत! आप मुआफ कीजिये। आपके समझने की कोई ज़रूरत नहीं है। हमलोग, आपके इस 'कुछ समझने' को, दूर से दण्डवत् करते हैं। आपके फेर में पड़कर अपनी इस ग़ैरआबाद—उजड़ी हुई—टूटी-फूटी मँड़ैया को हमलोग बरबाद करना नहीं चाहते। यह 'घर फूँककर तमाशा देखने' का पागलपन आप ही को मुबारक हो!

* * *

११५—अपने तईं भी खाना ख़ाली नहीं लज़्ज़त से,
क्या जानें होशवाले चक्खें तो मज़ा जानें।

अब पागलपन और बढ़ा। अभी तक थोड़ी-बहुत ख़ैरियत थी—बचने की उम्मीद थी। संभावना थी इस बात की कि विद्वान् और अनुभवी डाक्टर कोई तरकीब निकाल लेंगे, पर अब उम्मीद नहीं रही। पारा १०८ डिगरी से भी ऊपर चढ़ गया।

पागल 'मीर' भूख में अपना ही मांस चखने को तैयार है। वह कहता है—"अपनेको खाना भी लज्ज़त—स्वाद, मज़ा, आनन्द—से ख़ाली नहीं। होशवाले इसका स्वाद क्या जानेंगे, कभी खाकर—चखकर—देखें तब तो मालूम हो।"

एक तो पागलपन का काम करना, दूसरे—उलटे ही दूसरों को बेवक़ूफ समझना, इस भयंकर पागलपन की भला क्या दवा है! यहाँ तो अक़्ल ही गुम हो जाती है।

मज़ा तो यह कि हज़रत दूसरों को एक बार चखकर देखने का उपदेश भी दे रहे हैं।

❀ ❀ ❀

११६—हुई है दिल की महवियत से यकसाँ याँ ग़मो फ़रहत,
न मातम मरने का है 'मीर' नै जीने की शादी है।

मनुष्य की आन्तरिक शक्तियां के विकास की सीमा सुख और दुःख की सम-अनुभूति ही है। उस अवस्था से बढ़कर हमारे मत से कोई दूसरी अच्छी अवस्था नहीं हो सकती। जब मनुष्य को सुख-दुःख का समान अनुभव हो—जब न सुख का अनुभव हो न दुःख का—न आनन्द की कामना हो, न शोक की। मुक्ति में जो निरतिशय आनन्द होता है, उसी में यह अवस्था होती है। पूर्ण—व्यापक—वस्तु में क्रिया नहीं होती (गति होगी कहाँ से जब सर्वत्र वह वस्तु समभाव से विराजमान रहेगी) इस सिद्धान्त की कसौटी ही इस प्रकार के अनुमान का आदिभूत कारण है।

तुलसीदासजी ने अपनी रामायण के द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड) में मङ्गल प्रार्थना करते हुए भगवान् रामचन्द्र के प्रति कहा है—

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मंजुल मंगलप्रदा॥'

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध से (जिस मुखकमल की शोभा राज्याभिषेक से न प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न वनवास के ख़ेद से म्लान ही हुई) उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

मीर साहब कहते हैं—"चित्त की असीम संलग्नता से मेरे लिये सुख-दुःख एक समान हो गये हैं। अब न तो मुझे मरने का शोक ही है और न जीने का आनन्द ही।"

कितनी संलग्नता है! जो लोग प्रेम को मोह का रूप देकर एक बार दुःख पा जाते हैं और फिर उसकी आलोचना करने बैठते हैं, वे देखें कि प्रेम का फल कितना मधुर है!

❀ ❀ ❀

११७—परस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत तुझे,
नज़र में सबों की ख़ुदा कर चले।

ब्रह्म का शुद्ध रूप उसकी निराकारता में ही है, ऐसा सहस्र-सहस्र श्रुतियाँ चिल्लाकर कह रही हैं; किन्तु उस परम तत्त्व का सम्यक् रहस्य हृदयङ्गम होने से पहले मनुष्य क्या करे? मानव-मस्तिष्क सदैव सरलता की खोज करता है, वह कठिनाइयों को सुलझे हुए रूप में हल करना चाहता है। ऐसी अवस्था में जो लोग अपनी प्रारंभिक अवस्था में निराकार की उपासना नहीं कर सकते, उनके लिये भी तो कुछ उपाय होनी चाहिये? मूर्ति-

पूजा की सृष्टि इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई है। परमात्मा का कोई एक विशेष रूप अपनी रुचि के अनुसार कल्पित करके उसकी प्रेममयी उपासना ही मूर्त्तिपूजा का रहस्य है। साकार वस्तु के प्रति साधारणतया मनुष्य का स्नेह जितना अधिक और स्थायी हो सकता है, निराकार के प्रति उसका शतांश भी हो जाय, यह साधारण लोगों के लिये महा कठिन है।

इस प्रकार परमात्म-मूर्त्ति की उपासना करके धीरे-धीरे हम उस वस्तु के अधिकाधिक निकट होते जाते हैं, जिसकी मूर्त्ति हमारी उपास्य होती है। यदि उस वस्तु के प्रति स्नेह स्वाभाविक हुआ (बनावटी और बलात्कारजन्य नहीं) तो धीरे-धीरे हमारे उस स्नेह का विकास होने लगता है और अन्ततोगत्वा जब प्रेम पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाता है तो कल्पित मूर्त्ति की सत्ता क्षीण होने लगती है और अन्त में सान्निध्य-जन्य-प्रणयभूत ध्यान में विलीन हो जाती है।

इस प्रकार सच्चा मूर्त्तिपूजक मूर्त्ति की सत्ता और ध्येय (भगवान्) दोनों में एकात्म्यानुभव कर भगवान् के सगुण रूप का साक्षात्कार करता है। इस साक्षात्कार के पश्चात् ही उसे निर्विकार, निराकार, विराट् ब्रह्म की प्रतीति होती है और तब वह अपने में धीरे-धीरे विश्व की सारी विभूति हृदयंगम करता है। इस प्रकार वेदान्तवाद के 'अहं ब्रह्मास्मि' से जाकर एक आदर्श मूर्त्तिपूजक को आनन्द-धारा मिल जाती है। मूर्त्तिपूजक की मुक्ति-प्राप्ति का यदि कुछ रहस्य हो सकता है तो यही है।

एक बात लिखना भूल गया। मूर्त्ति की कल्पित अथवा

पाषाणनिर्मित सत्ता कैसे ध्येय (भगवान्) की उपासना में विलीन हो जाती है, इसे भी ज़रा समझ लेना चाहिये। मान लिया कि ब्रह्म की विराट् मूर्त्ति का अनुभव करने में मैं अशक्य हूँ। मैं करुण वात्सल्य-प्रकृति का आदमी हूँ, अतएव अपनी भावनाओं के अनुकूल मैंने ब्रह्म की एक साकार मूर्त्ति कल्पित की। वह मूर्त्ति चतुर्भुजी विष्णु के आकार की है। ऐसी एक सुन्दर पाषाण-मूर्त्ति का निर्माण कराके मैं ब्रह्म की उपासना में लीन हुआ। धीरे-धीरे मेरी भक्तिसरिता में तरंगें उठने लगीं। आनन्द की अधिकाधिक वृद्धि होते-होते उसमें प्रणयभूत भक्ति की प्रबलता से बाढ़ आ गई। उसी पाषाणमूर्त्ति के सामने आसन मारकर मैं योग-मुद्रा से—संयमपूर्वक—परमात्म-चिंतन में लग गया। ध्यान करते-करते उसमें ही मेरी अनुरक्ति सी हो गई—धीरे-धीरे तन्मयता आने लगी। थोड़ी देर के लिये इस संसार का ध्यान एकदम भूल गया।

जब ध्यान का आवेग कुछ कम हुआ—आँखें खुलीं, तो देखता हूँ कि जिसका ध्यान अभी तक कर रहा था, वही तो सामने है (याद रहे कि भक्ति की प्रबलता में यह बात भूल जाती है कि पाषाणमूर्त्ति के आगे मैं बैठा हुआ हूँ)। फिर थोड़ी देर बाद शंका-सी होती है कि नहीं जी, यह कल्पित पाषाण मूर्त्ति है जो मैंने बनवाई थी। कभी उसे उस मूर्त्ति में उपास्य की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है (उस समय वह पाषाण-मूर्त्ति की सत्ता भूल जाता है) और कभी पाषाण-रूप दृष्टिगोचर होता है। यह मूर्त्तिपूजावलम्बित भक्ति की प्रथम श्रेणी है जिसमें कभी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है और कभी अप्रत्यक्ष)।

इसके पश्चात् प्रेम में और प्रौढ़ता आती है और धीरे-

धीरे पाषाण-भाव में अभाव का मनोयोग होने लगता है। इस विकास का अन्त उस समय होता है, जब हमें उस मूर्त्ति में पाषाणत्व की ज़रा भी अनुभूति नहीं होती। वह मूर्त्ति ही जब हमारे लिये पूर्ण उपास्य हो जाती है, या दूसरे शब्दों में यों कहिये कि जब साधन और साध्य की एकात्म्यानुभूति होती है, तब भक्ति पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। इसी समय वह मूर्त्ति (उपासक की दृष्टि में जो इस समय उपास्य है) बोलने लगती है। यही मूर्त्तिपूजा की तात्त्विक विवेचना है।

इस सिद्धान्त के रहस्य की विवेचना करते हुए कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या किसी मनुष्य को (मूर्त्तिपूजा के सिद्धान्तानुसार) उपास्य मानकर पूजने अथवा प्रेम करने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है? इसका सबसे सरल और सीधा उत्तर यह है कि पहुँच सकता है, पर यदि उसके प्रेम में बनावट न हो, स्वाभाविकता हो—वह दिखलाने के लिये न हो, हार्दिक हो।

मीर साहब भी उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन उपर्युक्त शेर में कर गये हैं। वह भी अपने प्रियतम के सच्चे उपासक हैं, वह 'ला इलाही इललिल्लाह' (परमात्मा के अतिरिक्त कुछ उपास्य नहीं है) के सिद्धान्त को मानते हुए भी मूर्त्तिपूजक हैं। उनका कहना है—"ऐ बुत, (मूर्त्ति-प्रियतम के अर्थ में) मैंने तेरी उपासना में इतनी तल्लीनता प्राप्त की कि तुझे (अपनी दृष्टि में तो किया ही) सब लोगों की दृष्टि में परमात्मा बना दिया।

❀ ❀ ❀

११८—यकजा अटक के रहता है दिल हमारा वर्ना,
सबमें वही हक़ीक़त दिखाई दे रही है।

किसी को प्यार करते हुए मुक्ति प्राप्त करने का दूसरा पहलू भी देखिये। प्रेमी, प्रियतम के प्रेम में, धीरे-धीरे तन्मयता प्राप्त करने लगता है। जब चारों ओर उसी का ध्यान करते करते प्रेम पूर्ण प्रणय में परिवर्तित हो जाता है तो फिर संसार में चारों ओर वह उसी की विभूति देखता है—उसी का व्यापक अनुभव करता है। विश्व-प्रेम इसी अवस्था की एक झलक है। 'मीर' के इस शेर में उसी अवस्था की झलक दीख पड़ती है।

मीर साहब फरमाते हैं—"हमारा हृदय एक ही जगह अटक-कर रहता है, अन्यथा मैं संसार में सभी जगह—सब वस्तुओं में—उसी की विभूति देखता हूँ!"

मीर का आन्तरिक जीवन—उसका हृदय—इस शेर में मौजूद है। इस शेर के द्वारा उसने संसार के सम्मुख इस बात का उदाहरण उपस्थित किया है कि साधारण प्रेम कैसे विश्व-प्रेम में परिणत हो सकता है। किस प्रकार मनुष्य प्रेम से मुक्ति लाभ कर सकता है। कितना बढ़िया शेर है—

यकजा अटक के रहता है दिल हमारा वर्ना,
सबसे वही हक़ीकत दिखलाई दे रही है।

❀ ✱ ✳

११६—करिये जो इब्तिदा तो ताहश्र हाल कहिये।
आशिक़ की गुफ्तगू की कुछ इन्तिहा नहीं है॥

प्रेमी का सभी कुछ अनन्त होता है। उसमें परमात्मा की अधि-काधिक विभूति—अधिकाधिक करुणा—दीख पड़ती है। प्रेम जब अपने जीवन-धन को पाकर, उसके पास बैठ, बातें करने लगता है तो क्या कभी वे बातें समाप्त होती हैं? वे बातें तो

'व्यर्थ' (दूसरों की दृष्टि में) होती हैं। (यहाँ मैंने 'व्यर्थ' शब्द को विशेष रूप से चुना है, क्योंकि इस शब्द में दो रहस्य हैं। इसका एक अर्थ तो हुआ 'फजूल' और दूसरा हुआ 'स्वार्थ-रहित' !) व्यर्थ बातें तो कभी समाप्त हो ही नहीं सकतीं। प्रेमी की उत्कण्ठामयी प्रेमधारा सदैव चाहती है कि अनन्त काल तक के लिये हम दोनों एकत्र बैठे बातें किया करें। इस इच्छा का कारण गूढ़ है। बात यह है कि प्रेमी अपने प्यारे से अखंड अभिन्नता चाहता है—वह नहीं चाहता कि हम दोनों का एक मिनट के लिये भी वियोग हो।

उत्कंठा, प्रेमी की पोषिका है। मीर साहब के इस शेर में भी उत्कठा अखंड भाव से नृत्य कर रही है। वह कहते हैं "यदि बातचीत का आरंभ हो तो प्रलय तक वह समाप्त नहीं हो सकती। प्रेमी की बातचीत अनन्त है, उसकी कुछ इन्तिहा नहीं है।"

❀ ❀ ❀

१२०—इश्क़ आँखों के नीचे किये क्या 'मीर' छिपे है।
पैदा है मुहब्बत तेरी मिज़गाँ की तरी से॥

प्रेमारंभ के कुछ दिनों बाद तक, चार-छः महीने तक, न जाने क्या हालत रहती है। दोनों की आँखें चुपके-चुपके दोनों को हृदय की सारी क़लई खोलकर बता देती हैं। दोनों जान लेते हैं कि यह हमारा प्रेम-पात्र है, पर सामने जाने पर, (मन में देखने, बात करने की इच्छा होते हुए भी) न जाने क्यों, सामने से हट जाना पड़ता है, एक प्रकार की लज्जा-सी आती है। आँखों में थोड़ी लज्जा, थोड़ा रसीलापन और थोड़ा प्रेम आ जाता है और

इनके भार से वे नीचे झुक जाती हैं। विचित्र दृश्य होता है। दिल उछलता रहता है, आँखें ऊपर उठकर किसी को देखने के लिये अकुलाती रहती हैं, पर न जाने क्यों, लज्जा से वे ऊपर नहीं उठ सकतीं। वह लज्जा भी कुछ अजीब प्रकार की होती है। दोनों के उछलते हुए हृदयों की वेदना—आह !—कितनी प्यारी, कितनी मीठी होती है। उस हालत में प्रायः नीची आँख करके पैर के अँगूठे से लोग ज़मीन खुरचने लगते हैं ! न जाने क्या बात है, क्या रहस्य है, कुछ समझ में नहीं आता।

मीर साहब भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—"प्रेम कहीं आँखों के नीचे करने से छिपता है ? तेरी पलकों की तरावट—आँखों के रसीलेपन—से तो प्रेम का यह सारा भेद खुलता ही जा रहा है। इनसे तो प्रेम टपका पड़ता है।"

❀ ✱ ✱

१२१—न कटती टुक न होती जो फ़क़ीरी साथ उलफ़त के।
हमें जब उसने गाली दी है तब हमने दुआ दी है॥

मीर साहब कहते हैं—"यदि प्रेम के साथ मुझमें दीनता और गंभीरता न होती तो कठिनाई से बीतती। (दीनता ही के कारण) जब-जब उसने गालियाँ दी हैं (उन्हें ही प्रसाद समझ) तब-तब हमने धन्यवाद—आशीर्वाद-दिया है !"

प्रेमी किसी भी प्रकार से प्रियतम के साथ संयोग बनाये रखना चाहता है, इसी लिये गालियाँ भी अच्छी लगती हैं। एकदम चुप्पी साधने से तो यह अच्छा ही है। क्रोध से भी यदि प्यारे के मुँह से प्रेमी का नाम निकल गया तो वह अपनेको

कृतार्थ समझता है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने कितना बढ़िया कहा है—

"तेरे स्मृति-सौरभ में मृग-मन मस्त रहे,
यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।
शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं से,
छिपिये उसी में मत बाहर हो भीजिये॥
हो जो अवकाश कभी ध्यान आवे तुम्हें मेरा,
ए हो प्राणप्यारे! तो कठोरता न कीजिये।
क्रोध से, विषाद से, दया या पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये॥

"क्रोध से, विषाद से..........किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये"—इस पद में प्रेममयी भावना का नक़शा मौजूद है। कितनी विवशता है; इस कवित्त में कितनी पवित्रता है, कितनी निराशा है! हसरत-सी बरस रही है।

एक निराश और विस्मृत प्रेमी दीनता के साथ कहता है—"यदि कभी तुम्हें अवकाश हो—अपने जरूरी कार्यों से छुट्टी मिला करे (हाय! कितनी वेदनामयी निराशा है) और मेरा ध्यान, स्मरण आ ही जाय तो इतनी कठोरता न किया करो (कि उस ध्यान को समूल नाश करने की कोशिश में लग जाओ वरन्) प्रेम से न सही तो क्रोध (गाली के रूप में), विषाद (मेरी अपात्रता का विचार करके), दया (यह समझकर कि मैं पागल हूँ, दीन हूँ, अतएव दया का पात्र हूँ) अथवा पूर्वप्रीति का स्मरण करके ही कभी-कभी याद कर लिया करो।"

कितनी करुणात्मक स्थिति है! "तेरे स्मृति-सौरभ में मृग-

मन मस्त रहे"—यह अभिलाषा कितनी पवित्र है! इस अनोखे त्याग को कौन स्वार्थ कहता है ?

* * *

१२२—यों तो मुरदे से पड़े रहते हैं हम,
पर वह आता है तो आजाता है-जी।

पगला मीर कहता है—"उसके वियोग में मुरदे की भाँति पड़ा रहता हूँ, किन्तु जब वह आता है तो निर्जीव शरीर में जान-सी आ जाती है!"

कितनी चिपकती हुई बात है। "यों × × पर वह आता है तो आ जाता है जी"—इस परिस्थिति से ही प्रेम की अखंड धारा उमड़कर बह रही है। वियोग में 'मीर' बेहोश-सा पड़ा रहता है—वह प्रियतम का क्षणकालीन वियोग भी सह नहीं सकता, किन्तु उसके आते ही—आते ही क्या, दूर से जरा-सी झलक दीख पड़ते ही—प्राण आ जाता है, आँखों में ज्योति-सी आ जाती है। संजीवनी का यह संयोग अनुभव से ही जाना जा सकता है।

* * *

१२३—हाय!, उसकी शर्बती लब से जुदा,
कुछ बताशा सा घुला जाता है जी।

कितनी मधुर शब्द-योजना है। शब्द वही हैं, जो हमलोग रोज़ बोलते हैं, उक्ति में भी कुछ विशेपता नहीं है, पर रचना में कितनी मिठास है। विदग्धता तो मानो कूट-कूटकर भर दी गई है।

'लब'—अधर—के लिये शर्बती विशेपण कितना बढ़िया हुआ है। इससे मधुरता और लालिमा दोनो का काम निकल जाता

है। "कुछ बताशा-सा घुला जाता है जी"—इस वाक्य ने तो ग़ज़ब-सा कर दिया है। 'बताशा-सा जी का घुलना' कितना ठीक और मजेदार हुआ है!

इस शेर में एक चमत्कार भी है। 'शर्बती लब' से अलग रहने पर 'जी बताशा'-सा घुला जाता। 'शर्बत' से मिलने पर बताशे को जल्दी घुलना चाहिये, किन्तु यहाँ मामला ही उलटा है। उस 'शर्बत' से दूर रहने पर ही 'बताशा' घुला जा रहा है!

कितनी विचित्रता है!

❀ ❀ ❀

१२४—क्या कहें तुमसे कि उस शोले बग़ैर,
जी हमारा कुछ जला जाता है जी।

अनोखी उक्ति है। मीर साहब फ़रमाते हैं—"तुमसे क्या कहें—उस शोले के बिना हमारा जी जला जाता है!"

ज़रा देखिये, वह किस दुनिया का शोला है जो दूर रहने पर जलाता है और पास रहने पर हृदय शीतल करता है।

मुझे श्लोक अच्छी तरह याद नहीं है, पर भर्तृहरि या किसी दूसरे संस्कृत कवि की एक रचना का भाव है:—

"कामिनी के स्तनमण्डल में विचित्र प्रकार की अग्नि दीख पड़ती है जो पास जाने पर तो हृदय को शीतल करती है, पर दूर से हृदय में आग-सी फूँक देती है!"

मीर भी वही कहते हैं, पर संस्कृत-श्लोक में स्वार्थ की मात्रा बहुत बढ़ गई है। 'कामिनी' की बात होने से बात दूर चली गई है, पर 'मीर' तो केवल सच्ची वेदना के ही भूखे हैं!

❀ ❀ ❀

१२५—जिस्मख़ाक़ी का जहाँ पर्दा उठा,
हम हुए फिर 'मीर' सब कुछ हम हुआ !

'मीर' का उपरिलिखित शेर सम्पूर्ण वेदान्त का सारांश है। कवि ने गागर में सागर भरकर मुक्ति के रहस्य तथा आत्मा के विराट रूप का चित्रण किया है।

हमारे यहाँ आत्मा को अनन्त, अनादि और अखंड कहा है। वह सुख-दुख, सबसे परे त्रिगुणातीत नित्य है। स्थूल जीव के साथ इस मांस-पिंड का संयोग ही हमारी सांसारिक प्रक्रियाओं का मुख्य कारण है। आत्मा की अमरता का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर हमारे अन्तस्तल में अनन्त ज्योति का आविर्भाव होता है और तब भव-भीति का एकदम नाश हो जाता है। शरीर की अनित्यता और जीव एवं आत्मा के साथ उसके आन्तरिक सम्बन्ध-जन्य रहस्य का पर्दा खुल जाने पर ही हम जगत् में, इस विशाल ब्रह्माण्ड में, अपना अनन्त प्रतिरूप, दर्पण की छाया के समान स्पष्ट—पर सत्य तत्त्व रूप में—अनुभव करते हैं। शरीर के इस अज्ञान-भूत परदे के उठ जाने पर देखते हैं कि यह विराट ब्रह्माण्ड हमारी ही विभूतियों की प्रतिध्वनि कर रहा है। उस समय हम देखते हैं कि परमाणु-परमाणु में हमारे अनन्त सौन्दर्य की स्थिर झलक है। कहीं कोई नहीं है—यहाँ, वहाँ चारो ओर हमीं-हम हैं।

सैकड़ों श्रुतियाँ चिल्ला-चिल्लाकर कह रही हैं कि तुम्हीं इस जगत् के मूल रूप हो—यह सब तुम्हारी ही लीलाओं का मायामिश्रित वैभव है। 'मीर' ने भी मुलायम शब्दों में मानों समग्र वेदान्त पर एक शेर में भाष्य किया है। कितना छोटा शेर है—

"जिस्मख़ाकी का जहाँ परदा उठा,
हम हुए फिर 'मीर' सब कुछ हम हुआ।

मिट्टी के इस शरीर का ज्योंही परदा उठा—ज्योंही उसका आन्तरिक रहस्य हृदयंगम हुआ, त्योंही केवल हम रह गये, संसार की सब वस्तुएँ, 'हम' हो गईं। विश्व में चारों ओर अपनी ही मूर्त्ति दीखती है।

'सच्चिदानन्दोऽहम्', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहम्', 'विराटमनन्तब्रह्मोऽहम्' इत्यादि महावाक्य डंके की चोट 'मीर' की ताईद कर रहे हैं।

❀ ❀ ❀

१२६—जहाँ का दरियाए बेकराँ तो सुराब पायानेकार निकला।
जो लोग तह से कुछ आशना थे उन्होंने लब तर किया न अपना॥

दुरंगी दुनिया का बड़ा बढ़िया फ़ोटो इस शेर के आन्तरिक भावों में 'मीर' ने खींचा है। संसार की असारता का जितना अच्छा और प्रभावोत्पादक अनुभव एक निराश प्रेमी कर सकता है, उतना दूसरे लोग नहीं कर सकते। साधारण प्रेमियों को भी निराशाजन्य असफलता के कारण संसार से गहरी विरक्ति होती देखी गई है। मीर का तो जीवन ही निराशा और वेदना के साँचे में ढला हुआ था। खूब अच्छी तरह अनुभव करके, बार बार ठोकर खाकर, पछताकर वह कहता है—"हाय! इतना कष्ट झेलकर भी निराश ही होना पड़ा। अन्त में यह संसार-सागर, मृगतृष्णाभास के समान मरुभूमि ही निकला। इतना दौड़कर हँसी भी हुई, कष्ट भी झेलना पड़ा और पानी का नाम-निशान भी नहीं। जो

लोग इसके आन्तरिक रहस्यों से परिचित थे, उन्होंने व्यर्थ समझ-कर, असत् जान, इधर क़दम ही नहीं बढ़ाया।"

❀ ❀ ❀

१२७—जो राहे दोस्ती में ऐ 'मीर' मर गये हैं,
सर देंगे लोग उनके पा के निशान ऊपर।

अर्थ बिलकुल सीधा और साफ़ है। मीर साहब का कथन है कि मैत्री-मार्ग में जिन लोगों की मृत्यु हुई है; लोग उनके पद-चिन्हों पर अपना सर रखेंगे।

भावार्थ यही की प्रेम-संग्राम के शहीद साधारण सांसारिक वीरों की अपेक्षा अधिक आदरणीय हैं।

बहुत-कुछ इसी आशय से मिलता-जुलता फ़ारसी का एक पद्य है, जो नीचे लिखा जाता है। इस रुबाई (चतुष्पदी) को बंगाल के सुप्रसिद्ध नवाब अलीवर्दीखाँ ने अपने दौहित्र सिराजुद्दौला को एक पत्र में लिखा था—

"ग़ाज़ी कि पाये शहादत अन्दर तगोपोस्त,
ग़ाफ़िल की शहीदे इश्क़ फ़ाजिलतर अज़दोस्त।
फ़रदाय क़यामत ईं व आँ क़ायम न अन्द,
ईं कुश्तः दुश्मनाँ आँ कुश्तए दोस्त।"

अर्थात् "धर्म के लिये युद्ध में प्राण-विसर्जन करनेवाले शहीद यह बात भूल जाते हैं कि प्रेम के शहीद उन लोगों की अपेक्षा अधिक धीर एवं वीर हैं। इन दोनों की लोक-परलोक कहीं भी तुलना नही की जा सकती। धर्मवीर पुरुष तो दुश्मनों के हाथ से मारे जाते हैं, और ये तो दुश्मनों की कौन बात, अपने सर्वाधिक आत्मीय द्वारा ही शहादत (वीर-गति) लाभ करते हैं!"

जिन्होंने कभी किसी से निस्वार्थ प्रेम किया है, वे ही इसे हृदयङ्गम कर सकेंगे। प्रेम के मार्ग में ऐसे सैकड़ों अवसर आते हैं जब मृत्यु एक खेल-सी समझ पड़ती है। मृत्यु से भी अधिक पीड़क वेदना उठकर अनेक स्थानों पर हृदय चीर डालती है। मरना तो उस समय मनुष्य को दुःखदायी होने की अपेक्षा उलटे सुखकर मालूम पड़ता है।

* * *

१२८—थोड़े से पानी में भी चल निकले है उभरता,
वेतह है सर न खींचे एकदम हुवाव क्योंकर।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि बुद्धिहीन लोगों में ही अहंकार अधिक परिमाण में होता है, जो विद्वान् होते हैं, उनकी गभीरता उनकी नस-नस में घुसकर उनका सर सदैव के लिये नीचे झुका देती है। मीर साहब ने भी कितना अच्छा दृष्टान्त खोज निकाला है। वे कहते हैं—

थोड़े से पानी में भी चल निकले है उभरता,
वेतह है सर न खींचे एकदम हुवाव क्योंकर।

अर्थात् "बुलबुले को देखिये। थोड़े पानी में भी उभर कर, अकड़ते हुए चलता है। क्यों न हो. आख़िर तो वह एकदम वेतह है!"

बुलबुले के पोलेपन पर कैसी बढ़िया उक्ति है?

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी छुद्र लोगों को ही लक्ष्य करके कहा है—

क्षुद्र नदी भरि चली इतराई।

नीच मनुष्य योंही अहंकार से परिपूर्ण होते हैं।

❀ ❀ ❀

१२६—वरा में कहाँ शोर ऐसा धरा था।
किसूका मगर दिल रखा था जरस में॥

मीर साहब जरस (धौंसे) को देखकर फरमाते हैं कि दुनिया में भला ऐसा शोर कहाँ? जरस में ज़रूर किसी का दिल रखा हुआ था।

यह उक्ति कल्पनात्मक होते हुए भी वेदना से ख़ाली नहीं है।

❀ ❀ ❀

१३०—परकाले आगे के थे क्या नालाहाय बुलबुल।
शबनम से आबले हैं गुलबर्गसी ज़बाँ पर॥

'मीर' के जीवन में वेदना का ऐसा अभेद संमिश्रण है कि वह जो कुछ कहता है, उसी में निराशा, हसरत और पीड़ा की झलक दीखने लगती। वह जब कोई बढ़िया उक्ति कहता है तो भी उसके अन्दर वही आँसू-भरी भावनाएँ मौजूद रहती हैं।

इसी शेर में देखिये। वियोगावस्था में बुलबुल, गुल, चमन और शबनम को देखकर आप कहते हैं—

"क्या बुलबुल की करुण चीत्कार आग का परकाला थी, जो पुष्प-पत्र के समान कोमल जिह्वा पर शबनम (ओस) से आबले (छाले) पड़ गये हैं?"

❀ ❀ ❀

१३१—इन उजड़ी हुई बस्तियों में दिल नहीं लगता,
है जी में वहीं जा बसें वीराना जहाँ हो॥

साधारणतः प्रेम में जब वियोग का प्रबल झोंका कोमल कलेजे पर जा लगता है तो आबादी में दिल नहीं लगता, मन किसी को खोजता है, और उसके न पाने पर एकान्त में रोने को जी चाहता है। एकान्त में मनुष्य की शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से एकाग्रता का उत्पादन करके हृदय को शान्ति देती हैं। यही इस बात का रहस्य है।

मीर भी कितने कोमल स्वर में कहते हैं—

इन उजड़ी हुई बस्तियों में दिल नहीं लगता,
है जी में वहीं जा बसें वीराना जहाँ हो।

जाओ 'मीर', जाओ! यह हृदयहीन दुनिया तुम्हारे लिये नहीं है—यहाँ का समाज तुम्हें खाने दौड़ता है और वहाँ के गुल्मलतादि तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक अपनाएँगे।

'उजड़ी हुई बस्ती'—इसलिये कहा है कि प्रियतम से हीन जो है, सब उजड़ा ही सा है।

* * *

१३२—इश्क़ो मुहब्बत क्या जानूँ लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ।
अन्दर ही अन्दर सीने में मेरे दिल को कोई खाता है॥

प्रेम का पूर्वाभास है।

* * *

१३३—कब बन्दगी मेरी सी बन्दा करेगा कोई,
जाने है ख़ुदा उसको मैं तुझको ख़ुदा जाना॥

उपर्युक्त शेर के उत्तरार्द्ध से प्रकट है कि 'मीर' अपने प्यारे को ही ख़ुदा मानते हैं।

'आलम है यार की तजल्ली मीर' (संसार, प्रियतम का प्रकाश है) कहकर इस सिद्धान्त की कई जगहों पर पुष्टि की है।

❀ ❀ ❀

१३४—क्या हमें हम तो हो चले ठण्डे,
गर्म गो यार की ख़बर है अब।

इस शेर में अलंकारिक चमत्कार मौजूद है। 'ठण्ढे' और 'गर्म' का विरोधाभास काबिलदीद है।

मीर साहब कहते हैं—"हमें क्या ? यद्यपि यार की ख़बर गर्म है (उसके आगमन की ख़बर सुनाई दे रही है); किन्तु मैं तो ठण्डा हो चला—आसन्न-मृत्यु हूँ।"

* * *

१३५—टेढ़े बाँके सीधे सब हो जायँगे,
उसके बालों ने भी बल खाया है अब।

अर्थ सीधा, साफ और उक्ति चमत्कार-पूर्ण है।

* * *

१३६—जुस्तजू में यह तअज्जुब खिचके आखिर हो गये।
हम तो खोये भी गये लेकिन न तू पाया गया॥

अन्वेषण की पराकाष्ठा, लक्ष्य से एकात्म्यानुभव करने में ही है। जब साधन और साध्य का पूर्ण संयोग होता है, तभी सिद्धि होती है। इस सिद्धान्त की समीक्षा हम पीछे कर आये हैं। मुक्ति के पश्चात् जब मनुष्य ब्रह्म की अनन्त सत्ता में विलीन हो जाता है, तभी की अवस्था इस शेर में है—'हम तो खोए भी गये'—'अगर पाया, पता अपना न पाया'-वाली बात है।

ग़ज़लें

न हुआ पर न हुआ 'मीर' का अन्दाज़ नसीब,
'ज़ौक' यारों ने बहुत ज़ोर ग़ज़ल में मारा।

—उस्ताद ज़ौक़।

"A Poet is not only a dreamer of dreams, but his heart is the mirror of the world's emotion, his songs of gladness are the echoes of the world's laughter; his songs of sorrow reflect the tears of humanity."

—Sarojini.

(१)

गुल[1] व बुलबुल बहार[2] में देखा,
एक तुझको हज़ार में देखा।
जल गया दिल, सफ़ेद हैं आँखें,
यह तो कुछ इन्तज़ार[3] में देखा।
आबले का भी होना दामनगीर[4],
तेरे कूचे के ख़ार[5] में देखा।
तेरा आलम हुआ यह रोज़े सियाह,
अपने दिल के गुबार में देखा।
जिन बलाओं को 'मीर' सुनते थे,
उनको इस रोज़गार[6] में देखा।

---

(२)

ऐ दोस्त! कोई मुझसा रुँसवा[7] न हुआ होगा;
दुश्मन के भी दुश्मन पर ऐसा न हुआ होगा।
अब अश्के हिनाई[8] से तर न करे मिज़गाँ[9],
वह तुझ कफ़ेरंगीं का मारा न हुआ होगा।
टुक गोरे ग़रीबाँ की कर सैर कि दुनियाँ में,
इन जुल्मरसीदों पर क्या क्या न हुआ होगा।

१—गुल = पुष्प। २—बहार = वसंत। ३—इन्तज़ार = प्रतीक्षा। ४—दामनगीर = अंचलग्राही। ५—ख़ार = कंटक। ६—रोज़गार = व्यापार। ७—रुसवा = बदनाम। ८—अश्के हिनाई = खूनी आँसू। ९—मिज़गाँ = पलकें।

है फ़ायदए कुल्ली यह कूए-मुहब्बत में,
दिल गुम जो हुआ होगा, पैदा न हुआ होगा।
इस कुहनः ख़राबे में आबादी न कर मुनइम,
एक शहर नहीं याँ जो सेहरा न हुआ होगा।
आँखें से तेरे हमको है चश्म कि अब होवे,
जो फ़ितना कि दुनिया में बरपा न हुआ होगा।
जुज़[1] मर्त्तबए[2] कुल को हासिल करे है आख़िर,
एक क़तरा न देखा जो दरिया न हुआ होगा।
सद नश्तरे मिज़गाँ[3] के लगने से न निकला ख़ूँ,
आगे तुझे 'मीर' ऐसा सौदा[4] न हुआ होगा।

---

(३)

है ग़ज़ल 'मीर' यह शफ़ाई की,
हमने भी तबः आज़माई की।
वस्ल के दिन की आरज़ू ही रही,
शब न आख़िर हुई जुदाई की।
उसके ईफ़ाय अहदं[5] तक न जिये,
उम्र ने हमसे बेवफ़ाई की।
इसी तक़रीब इस गली में रहे,
मिन्नतें हैं शिकस्तापाई की।

१—जुज़=अंश। २—मर्त्तबए कुल=पूर्ण-पद। ३—नश्तरे मिज़गाँ=पलकों के नश्तर। ४—सौदा=पागल। ५—ईफ़ाय अहद=प्रतिज्ञा की अवधि।

दिल में उस शोख़ के न की तासीर[1],
आह ने आह नारसाई की।
कासए चश्म ले के जूँ नरगिस,
हमने दीदार की गदाई की।
ज़ोरो ज़र कुछ न था तो बारे 'मीर',
किस भरोसे पै आशनाई की।

---

(४)

आँखों में जी मेरा है इधर यार देखना,
आशिक़ का अपने आख़िरी दीदार देखना।
कैसा चमन कि हमसे असीरों[2] को मना है,
चाके क़फ़स[3] से बाग़ की दीवार देखना।
आँखें चुराइयो न टुक अब्रेबहार से,
मेरी तरफ़ भी दीदए ख़ूँबार देखना।
होता न चार चश्म दिल उस ज़ुल्मपेशा से,
हुशियार ज़ीनहार ख़बरदार देखना।
तय्यार दिल है दाग़े जुदाई से रश्के बाग़,
तुझको भी हो नसीब यह गुलज़ार देखना।
गर ज़मज़मा यही है कोई दिन तो हमसफ़ीरें[4],
इस फ़स्ल ही में हमको गिरफ़्तार देखना।
बुलबुल हमारे गुल पै न गुस्ताख़ कर नज़र,
हो जायगा गले का कहीं हार देखना।

१—तासीर = प्रभाव। २—असीर = बन्दी। ३—क़फ़स = पिंजरा, कारागार। ४—हमसफ़ीर = सहयात्री।

शायद हमारी ख़ाक से कुछ हो भी ऐ नसीम,
गुर बाल करके कूचए दिलदार देखना।
ऐ हमसफ़र[1] न आबले[2] को पहुँचे चश्मतर[3],
लागा है मेरे पाँव में आख़ार[4] देखना।
उस ख़ुशनिगह के इश्क़ से परहेज़[5] की जो 'मीर',
जाता है लेके जी ही यह आज़ार[6] देखना।

(५)

जो इस शोर से 'मीर' रोता रहेगा,
तो हमसाया[7] काहे को सोता रहेगा।
मैं वह रोने वाला जहाँ से चला हूँ,
जिसे अब्र[8] हर साल रोता रहेगा।
मुझे काम रोने से अकसर है नासेह[9],
तू कब तक मेरे मुँह को धोता रहेगा।
बस ऐ गिरिय! आँखें तेरे क्या नहीं हैं,
कहाँ तक जहाँ को डुबोता रहेगा।
मेरे दिल ने वह नाला पैदा किया है;
जरसे[10] के भी जो होश खोता रहेगा।

१—हमसफ़र=सहयात्री, सहयोगी पथिक। २—आबला=फोड़ा। ३—चश्मतर=भरी हुई आँखें। ४—आख़ार=काँटा। ५—परहेज=बचाव। ६—आज़ार=रोग। ७—हमसाया=साथी। ८—अब्र=बादल। ९—नासेह=उपदेशक। १०—जरस=सौदागरों के काफ़ले का विशाल धौंसा।

तू यों गालियाँ शौक़ से ग़ैर को दे,
हमें कुछ कहेगा तो होता रहेगा।
बस ऐ मीर मिज़गाँ[1] से पोंछ आँसुओं को,
तू कब तक यह मोती पिरोता रहेगा।

---

(६)

आहे[2] सेहर ने सोज़िशे दिल[3] को मिटा दिया,
इस याद ने हमें तो दिया सा बुझा दिया।
समझी न बादे[4] सुबह कि आकर उठा दिया।
इस फ़ितनए ज़माने[5] को नाहक जगा दिया॥
पोशीदः[6] राजे इश्क़[7] जला जाय था सो आज,
बेताक़ती ने दिल की वेह परदा उठा दिया।
इस मौजख़ेज़[8] देहर[9] में हमको क़ज़ा[10] ने आह,
पानी के बुलबुले की तरह से मिटा दिया।
थी आग उसकी तेग़ पर इस इश्क ने क्या खूब,
दोनों को मारके में गले से मिला दिया।
आवारगाने इश्क़ का पूछा जो मैं निशान,
मुश्ते ग़ुबारे[11] ले के सबा ने उड़ा दिया।

१—मिज़गाँ=पलकें। २—आहे सेहर=प्रातःकाल की आह। ३—सोज़िशे दिल=हृदयाग्नि। ४—बाद=हवा। ५—फितनए ज़माना=संसारव्यापी दुख। ६—पोशीदः=गुप्त। ७—राज़े इश्क़=प्रेम-रहस्य। ८—मौजखेज़=तरङ्गमय। ९—देहर=ज़माना। १०—क़ज़ा=मृत्यु। ११—मुश्तेगुबार=मुट्ठी भर धूल।

अजज़ा[1] बदन के जितने थे पानी हो बह गये,
आख़िर गुदाज़े इश्क़ ने हमको बहा दिया।
मुद्दत रहेगी याद तेरे चेहरे की झलक,
जलवे को जिसने माह[2] के जी से भुला दिया।
हमने तो सादगी से किया जी का भी ज़ियान,
दिल जो दिया था सो तो दिया सर जुदा दिया।
तकलीफ़ दर्दे दिल की अबस हमनशीं ने की,
दर्देसखुन ने 'मीर' सबों को रुला दिया।
उनने तो तेग़ खींची थी पर जी जलाने 'मीर',
हमने भी एक दम में तमाशा दिखा दिया।

---

(७)

शेख़ी का अब कमाल है कुछ और,
हाल है और फ़ाल[3] है कुछ और।
वादे बरसों के कितने देखे हैं,
दम में आशिक़ का हाल है कुछ और।
सहल मत बूझ यह तिलिस्मे जहाँ[4],
हर जगह यों ख़याल है कुछ और।
नौरगेजाँ[5] समझती होगी नसीम,
उसके गेसू का बाल है कुछ और।

१—अजज़ा = अंग। २—माह = चन्द्र। ३—फ़ाल = भाग्य। ४—तिलिस्मे जहाँ = संसार का इन्द्रजाल। ५—नौरगेजाँ = प्राण-वाहिनी नाड़ी।

न मिलें गोक हिज्र[1] में मर जायँ,
आशिक़ों का विसाल[2] है कुछ और।
कूड़मग्ज़ी पै शेख़ के मत जाव,
उस पै भी एहतमाल[3] है कुछ और।
इसमें उसमें बड़ी तफ़ावत[4] है,
कुब्क[5] की चाल ढाल है कुछ और।
'मीर' तलवार चलती है तो चले,
खुशख़रामों की चाल है कुछ और।

---

(८)

ग़ैरों से मिल चले तुम मस्ते शराब होकर।
ग़ैरत[6] से रह गये हम यकसू कबाब होकर॥
उस रूए-आतिशीं से बुरक़ा सरक गया था।
गुल बह गया चमन में ख़िजलत[7] से आब होकर॥
परदा रहेगा क्यों कर ख़ुरशीद ख़ावरी[8] का।
निकले है सुबह वह भी अब बेनक़ाब होकर॥
कल रात मुँद गई थीं बहुतों की आँखें ग़श[9] से।
देखा किया न कर तू सरमस्ते ख़्वाब होकर॥

१—हिज्र = वियोग। २—विसाल = मिलन, संयोग। ३—एहतमाल = बोझ, ख़ती। ४—तफ़ावत = अन्तर। ५—कुब्क़ = चकोर। ६—ग़ैरत = शर्म। ७—ख़िजलत = लज्जा। ८—ख़ुरशीद ख़ावरी = प्रभातकालीन बाल-सूर्य। ९—ग़श = बेहोशी, मूर्च्छा।

एक क़तरा[1] आब मैंने इस दौर में पिया है,
निकला है चश्मेतर से वह खूने नाब[2] होकर।

---

(९)

हम चमन में गये थे वा[3] न हुए।
नकहते गुल[4] से आशनाँ[5] न हुए॥
कैसा कैसा क़फ़स में सरमाए।
मौसिमे गुल में हम रिहा न हुए।

---

(१०)

अब नींद क्यों यह आवे गरमी ने आशिक़ी की।
दिल है जिधर वह पहलू सारा जला दिया है॥
हर्फ़े ग़लत भी क्या हम सफ़हे पै ज़िन्दगी के।
बस बेरहम क़ज़ा ने हमको मिटा दिया है॥
अचरज है यह कि है वह मेरा फ़िदाए तुरबत[6]।
कितनों का वर्ना खूँ कर उसने दबा दिया है॥
आँखों की कुछ हया[7] थी सो मूँद लीं उधर से।
परदा जो रह गया था वह भी मिटा दिया है॥

१—क़तरा=जलबिन्दु। २—खूने नाब=शुद्ध अथवा पवित्र रक्त। ३—वा=आकृष्ट। ४—नकहते गुल=पुष्प-पराग। ५—आशना=मोहित; प्रेमी। ६—तुरबत=क़ब्र। ७—हया=लज्जा।

क्या बे नमक हुआ है परवाना[1] राख जल कर।
रह रह के हम जले तो हमको जला दिया है॥
थे जूँ चिराग़े मुफ़लिस[2] मुज़तर[3] न तर्क था जब।
बारे फ़क़ीरी[4] ने तो आराम सा दिया है॥
नादर्दमन्द[5] बुलबुल नालाँ है बेतिही[6] से।
दिल हमको भी खुदा ने दर्द आशना[7] दिया है॥
आलम शिकार है वह इस सिन में 'मीर' इसको।
ढब जान मारने का किनने बता दिया है॥

---

(११)

हस्ती अपनी हुबाब की सी है,
यह नुमाइश सुराब की सी है।
नाज़की उसके लब की क्या कहिए,
पंखड़ी एक गुलाब की सी है।
चश्मे दिल खोल उस भी आलम पर,
याँ की औक़ात ख़ाब की सी है।
बार बार उसके दरपे जाता हूँ,
हालत अब इज़तरार्ब की सी है।

१—परवाना = पतंग। २—चिरागे मुफ़लिस = दीन का दीपक। ३—मुज़तर = दुःखी। ४—बारे फ़क़ीरी = दीनता का बोझ। ५—नादर्दमन्द = सहानुभूति-रहित। ६—बेतिही = ज़ोर। ७—दर्द आशना = वेदनाप्रिय। ८—इज़तराब = बेचैन, बेचैनी।

नुक़तए ख़ाले[1] से तेरा अबरू,
बेत एक इन्तख़ाबे[2] की सी है।
देखिए अब्र[3] की तरफ़ अब की,
मेरी चश्मे पुरआब की सी है।
'मीर' इन नीम बाज़ आँखों में,
सारी मस्ती शराब की सी है।

---

(१२)

अब जो एक हसरते जवानी है,
उम्र रफ़्तः की यह निशानी है।
इश्के यूसुफ़ है आह वक्ते अज़ीज़[4],
उम्र एक बारे[5] कारवानी है।
ख़ाक थी मौजज़न[6] जहाँ में और,
हमको धोका यह था कि पानी है।
उसकी शमशीरे तेज़[7] से हमदम[8],
मर रहेंगे जो ज़िन्दगानी है।
याँ हुए 'मीर' तुम बराबर ख़ाक,
वाँ वही नाज़ो सर गिरानी है।

१—नुक़तए ख़ाल = तिल-चिन्ह। २—इन्तख़ाब = चुनाव, यहाँ निर्वाचित। ३—अब्र = बादल। ४—अज़ीज़ = प्रिय। ५—बारे = बोझ। ६—मौजज़न = तरंगमय, लहराती हुई अथवा लहराता हुआ। ७—शमशीरे तेज़ = तीक्ष्ण तलवार। ८—हमदम = साथी।

(१३)

रोना यही है मुझको तेरी जफ़ा[1] से हर दम,
यह दिल दिमाग़ दाना कब तक वफ़ा करेंगे।
है देन सर का देना गरदन पै अपने मुझको,
जीते हैं तो तुम्हारा यह क़र्ज़ अदा करेंगे।
दरवेश[2] हैं हम आख़िर दा एक निगह के रुख़सत
गोशे[3] में बैठे प्यारे तुमको दुआ करेंगे।
दुनिया मरी है इस पर आगे अगर क़यामतें[4],
मेरी गली से हरसू महशर हुआ करेंगे।
दामाने दश्त[5] सूखा अब्रों की बेतही[6] से,
जंगल में रोने को अब हम भी चला करेंगे।
लाई तेरी गली तक आवारगी हमारी,
ज़िल्लतें[7] की अपनी अब हम इज्ज़त किया करेंगे।
अहवाले 'मीर' क्योंकर आख़िर हो एक शब[8] में,
एक उम्र हम यह क़िस्सा तुमसे कहा करेंगे।

---

(१४)

अबकी बिगड़ेगी अगर उनसे तो इस शह्र मे जा।
किसी वीराने में तकिया[9] ही बना बैठेंगे॥
मार्का गर्म तो टुक होने दो ख़ूँरेज़ी[10] का।
पहले तलवार के नीचे हमी जा बैठेंगे॥

१—जफ़ा = अन्याय, कृतघ्नता। २—दरवेश = फ़क़ीर। ३—गोशा = एकान्त। ४—क़यामत = प्रलय। ५—दश्त = जंगल। ६—बेतही = लापरवाही। ७—ज़िल्लत = दुःख, कष्ट, अनादर। ८—शब = रात। ९—तकिया = स्थान, निवास। १०—ख़ूँरेज़ = रक्त-प्लावन।

होगा ऐसा भी कोई रोज़ कि मजलिस से कभी ।
हम वह एकआध घड़ी उठके जुदा बैठेंगे ॥
देख वह ग़ैरते ख़ुरशीद[1] कहाँ जाता है ।
अब सरेराह[2] दमे सुबह से आ बैठेंगे ॥
कब तलक गलियों में सौदाई[3] से फिरते रहिये ।
दिल को इस ज़ुल्फ मुसलसल[4] से लगा बैठेंगे ॥
शोलःअफ़शाँ[5] अगर ऐसी ही रही आह तो 'मीर' ।
घर को हम अपने किसी रात जला बैठेंगे ॥

---

(१५)

मर ही जावेंगे बहुत हिज्र[6] में नाशाद[7] रहे,
भूल तुम हमको गये हो, यह तुम्हें याद रहे ।
हमसे दीवाने रहें शह्र में, तअज्जुब है,
दश्त[8] में कैस[9] रहें कोह में फ़रहाद[10] रहे ।
दूर इतने तो रहे शामेअजल[11] दूरी में,
ता सेहर[12] ऐसी ही जो ज़ारी वो फ़रियाद रहे ।

१-ग़ैरते-ख़ुरशीद=सूर्य-विनिन्दक, सूर्य को भी जिसे देखकर लज्जा आवे । २-सरेराह=मार्ग में । ३-सौदाई=पागल । ४-मुसलसल=क्रम-बद्ध । ५-शोलाअफ़शाँ=अग्निमय । ६-हिज्र=वियोग । ७-नाशाद=दुःखी । ८-दश्त=जंगल । ९-क़ैस=मजनूँ । १०-फ़रहाद=मजनूँ की भाँति ईरान का एक प्रसिद्ध प्रेमी हो गया है । ११-शामे अजल=मृत्यु-संध्या । १२-तासेहर=प्रभात तक ।

सर तो कटवा ही चुके 'मीर' तड़प है यह फ़ज़ूल,
जो टुक एक पाँव रखे छाती प जल्लाद रहे।

---

(१६)

नहीं विस्वास जी गँवाने के,
हाय रे ज़ौक़ दिल लगाने के।
मेरे इस ख़राब हाल पर मत जा,
इत्तफ़ाक़ाते[1] हैं ज़माने के।
दमे आख़िर ही क्या न आना था,
और भी वक़्त थे बहाने के।
इस कदूरत[2] को हम समझते हैं,
ढब हैं यह ख़ाक में मिलाने के।
बस हैं दो बर्गेगुल[3] क़फ़स[4] में सबा[5],
नहीं भूखे हम आबोदाने के।
मरने पर बैठे हैं सुनो साहब,
बन्दे हैं अपने जी जलाने के।
अब गरेबाँ[6] कहाँ कि ऐ नासेह[7]!
चढ़ गया हाथ इस दिवाने के।
चश्म नजमें[8] सपहर[9] झपकी है,
सदक़े इस अँखड़ियाँ लड़ाने के।

१–इत्तिफ़ाक़ात = इत्तिफ़ाक़ (संयोग) का बहुवचन रूप। २–कदूरत = शरारत। ३–बर्गेगुल = गुलाब की पंखड़ियाँ; फूलकी पत्तियाँ। ४–क़फ़स = क़ैद। ५–सबा = प्रभातीवायु। ६–गरेबाँ = गला। ७–नासेह = उपदेशक। ८–नजम = तारे। ९ सपहर = आकाश।

दिल, दीन, होशोसब्र सबही गये,
आगे आगे तुम्हारे आने के।
तीरो तलवारो सील एकजा हैं,
सारे असबाब मारे जाने के।
मिज़ः[1] अबरू गले से उसके 'मीर',
कुश्तः हैं अपने दिल लगाने के।

---

(१७)

दिल जो पर बेक़रार रहता है,
आज कल मुझको मार रहता है।
तेरे बिन देखे मैं मुकद्दर[2] हूँ,
आँखों पर अब गुबार रहता है।
जब यह है कि तेरी ख़ातिर दिल,
रोज़ बेइख़्तियार रहता है।
दिल को मत भूल जाना मेरे बाद,
मुझसे यह यादगार[3] रहता है।
दौर में चश्मेमस्त[4] के तेरे,
फ़ितना[5] भी होशियार रहता है।
हर घड़ी रंजिश ऐसी बातों से,
कैसे बतलाओ प्यार रहता है।

१–मिज़=पलक। २–मुकद्दर=मलीन, दुःखी। ३–यादगार=स्मृति। ४–चश्मेमस्त=मस्ती में भरी हुई—मुँदी जाती हुई—रसीली आँखें। ५–फ़ितना=आफ़त।

तुझ बिन आये हैं तंग जीने से,
मरने का इन्तज़ार[1] रहता है।
दिलवरो[2] दिल चुराते हो सबका,
यों कहीं एतबार[3] रहता है।
क्यों न होवे अज़ीज़ देखो 'मीर',
किसके कूचे में ख़ार[4] रहता है।

---

(१८)

आज कल बेक़रार हैं हम भी,
बैठ जा चलते यार हैं हम भी,
आन में कुछ हैं आन में कुछ हैं,
तोहफ़ए[5] रोज़गार हैं हम भी।
मना गिरियः न कर तू ऐ नासेह[6],
इसमें बेइख़्तियार[7] हैं हम भी।
दरपएजान[8] है मेरा दिल मगो,
किसीके तो शिकार हैं हम भी।
नाले करियो समझ के ऐ बुलबुल,
बाग़ में एक किनार है हम भी।

१—इन्तज़ार = प्रतीक्षा। २—दिलवर = प्रियतम, दिल चुरानेवाला। ३—एतबार = विश्वास। ४—ख़ार = काँटा; अनादृत। ५—तोहफ़ा = उपहार; आश्चर्य। ६—नासेह = उपदेशक। ७—बेइख़्तियार = बेबस। ८—दरपएजान = प्राण के स्थान पर।

मुद्दई[1] को शराब हमको ज़हर,
आफ़ियत[2] दोस्तदार हैं हम भी।
ग़रज़ ख़ुदरफ़्तः हैं तेरे नज़दीक,
अपने तो यादगार[3] हैं हम भी।
'मीर' नाम एक जवाँ सुना होगा।
इसी आशिक़ के यार हैं हम भी।

---

(१९)

आगे हमारे अहद[4] से वहशत[5] को जा न थी,
दीवानगी किसी की भी ज़ंजीरपा[6] न थी।
बेगाना सा लगे है चमन अब ख़िज़ाँ[7] में हाय,
ऐसी गई बहार मगर आशना न थी।
कब था या यह शोर नौहे[8] तेरा इश्क़ जब न था,
दिल था हमारे आगे तो मातमसरा[9] न थी।
वह और कोई होगी सेहर जब हुई क़बूल,
शर्मिन्दए-असर[10] तो हमारी दुआ न थी।
आगे भी तेरे इश्क़ से खींचे थे दर्दोरंज,
लेकिन हमारी जान पर ऐसी बला न थी।

१–मुद्दई = प्रतिद्वन्दी। २–आफ़ियत = कल्याण। ३–यादगार = स्मारक। ४–अहद = समय। ५–वहशत = पागलपन। ६–ज़ंजीरपा = जिसके पैरों में बेड़ी हो। ७–ख़िज़ाँ = पतझड़। ८–नौहः = मातम। ९–मातमसरा = मातम मनाने की जगह। १०–शर्मिन्दए—असर = प्रभावहीन।

देखे दयारे हुस्न[1] में मैं कारवाँ बहुत,
लेकिन किसी के पास मुताएवफ़ा[2] न थी।
आये परे से परदए मीना[3] से जाम[4] तक,
आँखो में तेरे दुख्तरे रज़[5] क्या हया न थी।
पज़मुरदः[6] इस कदर हैं कि शुबहा है हमको 'मीर',
तन में हमारे जान कभी थी भी या न थी।

---

(२०)

जिन जिनको था यह इश्क का आज़ार[7] मर गये।
अक़सर हमारे साथ के बीमार मर गये॥
होता नहीं है उस लबे नौख़त[8] पै कोई सब्ज़।
ईसा व ख़िज्र क्या सभी एक बार मर गये॥
यों कानोकान गुल ने न जाना चमन में आह!
सर को पटक के हम पसे दीवार[9] मर गये॥
मजनूँ न दश्त में है न फ़रहाद कोह में।
था जिनसे लुत्फ़े जिन्दगी वे यार मर गये॥
अफ़सोस वे शहीद जो कि क़त्लगाह में।
लगते ही उसके हाथ की तलवार मर गये॥

१—दयारेहुस्न = सौन्दर्य-प्रदेश। २—मुताएवफ़ा = प्रत्युपकार—सामग्री। ३—मीना = मद्य। ४—जाम = प्याला। ५—दुख्तरे रज़ = शराब। ६—पज़मुर्दः = सुस्त, मृतप्राय। ७—आज़ार = रोग। ८—लबे नौख़त = नूतन क्षेत्र के किनारे। ९—पसेदीवार = दीवार के पीछे।

घबरा न 'मीर' इश्क़ में तू ऐसी ज़ीस्त[1] पर,
जब कुछ न बस चला तो मेरे यार मर गये।

---

(२१)

क्या ग़म में ऐसे ख़ाक फ़िताद:[2] से हो सके।
दामन पकड़के यार का जो टुक न रो सके।
हम सारी सारी रात रहे रोते हैं लेकिन।
मानिन्द शमअ दाग़ जिगर का न धो सके॥
रोना तो अब्र का सा नहीं यार जानते।
इतना तो रोइये कि जहाँ को डुबो सके॥
बरसों ही मुन्तज़िर[3] खड़े रस्ते में हम रहे।
इस क़िस्म का तो सब्र किसी से न हो सके॥
रहती है सारी रात मेरे दम से चहल 'मीर'।
नाल: रहे तो कोई मुहल्ले में सो सके॥

---

(२२)

चाक पर चाक हुआ जूँ जूँ सिलाया हमने।
इस गरेबाँ[4] ही से अब हाथ उठाया हमने॥
हसरते लुत्फ़ अज़ीज़ाने चमन जी में रही।
सर प देखा न गुल व सरो का साया हमने।
जी में था अर्श[5] पर जा कीजिये तकिय: लेकिन।
बिस्तरा ख़ाक ही में अब तो बिछाया हमने॥

१—ज़ीस्त = ज़िन्दगी, जीवन। २—ख़ाक फ़िताद: = धूल में मिला हुआ। ३—मुन्तज़िर = इन्तज़ार (प्रतीक्षा) करनेवाला। ४—गरेबाँ = गला। ५—अर्श = आसमान।

बाद एक उम्र कहीं तुमको जो तनहा[1] पाया।
डरते डरते ही कुछ अहवाल सुनाया हमने।
बारे कल बाग़ में जा मुर्ग़े चमन से मिलकर।
ख़ूबिए गुल[2] का मज़ा ख़ूब उड़ाया हमने॥
ताज़गी दाग़ की हरशाम को बेहेच[3] नहीं।
आह क्या जाने दिया किसका बुझाया हमने॥
दश्तो कुहसार[4] में सर मारके चन्दे तुझ बिन।
क़ैसो फ़रहाद को फिर याद दिलाया हमने॥
बेकली से दिले बेताब की मर गुज़रे थे।
सो तहे ख़ाक भी आराम उठाया हमने॥

---

(२३)

ज़ालिम कहीं तो मिल कभी दारू पिये हुए।
फिरते हैं हम भी हाथ में सर को लिये हुए॥
आओगे होश में तो टुक एक सुध भी लीजियो।
अब तो नशे में जाते हो ज़ख्मी किये हुए॥

---

(२४)

करते हैं जो कि जी में ठाने हैं।
ख़ूबरू[5] किसकी बात माने हैं॥
मैं तो ख़ूबाँ[6] को जानता ही हूँ।
पर मुझे यह भी ख़ूब जाने है॥

१—तनहा = अकेले। २—ख़ूबिएगुल = पुष्प सौन्दर्य। ३—बेहेच = व्यर्थ।
४—कुहसार = पहाड़ी। ५—ख़ूबरू = सुन्दर। ६—ख़ूबाँ = सुन्दर, प्रियतम।

अब तो अफ़सुर्दगी[1] ही है हर आन।
वे न हम हैं न वे ज़माने हैं॥
क़ैसो फ़रहाद के वह इश्क़ के शोर।
अब मेरे अहद् में फ़िसाने हैं॥
इश्क़ करते हैं उस परीरू से।
'मीर' साहब भी क्या दिवने हैं॥

---

(२५)

कूचे में तेरे 'मीर' का मुतलक़[2] असर नहीं।
क्या जानिये किधर को गया कुछ ख़बर नहीं॥
है इश्क़ के परदे पे सितम देखना ही लुत्फ़।
मर जाना आँखें मूँद के यह कुछ हुनर नहीं॥
कब शब हुई ज़माने में जो फिर हुआ न रोज़[3]।
क्या ऐ शबे फ़िराक़[4] तुझी को सहर[5] नहीं॥
हरचन्द हम को मस्तों से सोहबत रहे है लेक।
दामन हमारा अब्र के मानिन्द तर नहीं॥
आँखें तमाम ख़ल्क़[6] की रहती है उसकी ओर।
मुतलक़[7] किसी को हाल पर मेरे नज़र नहीं॥

१—अफ़सुर्दगी = उदासी। २—मुतलक़ = ज़रा भी। ३—रोज = दिन। ४—शबेफ़िराक़ = वियोग - रात्रि। ५—सहर = प्रातःकाल। ६—ख़ल्क़ = संसार। ७—मुतलक़ = ज़रा भी।

(२६)

घबराने लगती याँ है रुक रुक के तन में जानें।
करते हैं जो जफ़ाएँ उनही के हौसले हैं॥
क्या क़द्र थी सख़ुन[1] की जब याँ भी सोहबतें थीं।
हर बात जायज़ः है हर बेत[2] पर सिले[3] है॥
जब कुछ लगन थी मुझसे तब कैसे मिलते थे तुम।
अतराफ़[4] के ये बेतह अब तुमसे आ मिले हैं॥
था रहम के मुनासिब, मज़लूमे इश्क़[5] था मैं।
इस कुश्तए सितम[6] को तुमसे बहुत गिले हैं॥
सोज़े दरूँ से उसकी क्यों आग में न चीखूँ[7]।
जूँ शीशए हुबाबी सब दिल प आबले हैं॥
अन्देशा जादेरह[7] का रखिये तो है मुनासिब।
चलने को याँ से अकसर तय्यार क़ाफ़िले हैं॥

---

(२७)

क्या कहें आतिशे हिजराँ[8] से गले जाते है।
छातियाँ सुलगी हैं ऐसी कि जले जाते है॥
गौहरे गोश[9] किसी का नही जी से जाता।
आँसू मोती से मेरे मुँह प ढले जाते है॥

२—सख़ुन=काव्य। २—बेत=शेर। ३—सिले=पुरस्कार। ४—अतराफ़=चतुर्दिक्। ५—मज़लूमेइश्क़=प्रेम-पीड़ित। ६—कुश्तएसितम=अन्याय से घायल। ७—ज़ादेरह=मार्गजन्य। ८—आतिशे हिजराँ=वियोगाग्नि। ९—गौहरे गोश=कान के मोती। गौहर शब्द गुहर (मोती) का बहुवचन है।

यही मसदूद[1] है कुछ राहे वफ़ा वर्ना हम ।
सब कहीं नामा वो पैग़ाम चले जाते हैं ॥
हैरते इश्क़ में तसवीर से रफ्तः ही रहे ।
ऐसे जाते हैं जो हम भी तो भले जाते हैं ॥
हिज्र के कोफ़्त जो खींचे हैं उन्हीं से पूछो ।
दिल दिये जाते हैं जी अपने लिए जाते हैं ॥
यादे क़द में तेरी आँखों से बहे है आँसू ।
गर किसी बाग़ में हम सरो[2] तले जाते हैं ॥
देखे पेश आवे है क्या इश्क़ में अब ऐ हमदम ।
हम भी इस राह में सर गाडे चले जाते हैं ॥
इस ग़ुबारे जहाँ से कुछ नहीं सुध 'मीर' हमें ।
गर्द इतनी है कि टलने में रले जाते है ॥

---

(२८)

शौक़ हम को खपाये जाता है ।
जान को कोई खाये जाता है ॥
हर कोई इस मुक़ाम में दस रोज़ ।
अपनी नौबत बजाय जाता है ॥

१—मसदूद=बन्द । २—सरो=एक वृक्ष विशेष जिससे उर्दू कवि नायक के क़द की उपमा देते हैं । यह वृक्ष प्रायः सभी बगीचों में पाया जाता है । बहुत सुन्दर और सुडौल होता है । सिरे पर एकदम पतला फिर धीरे-धीरे, चौड़ा फिर नीचे साधारण ढंग का होता है । पत्तियाँ बहुत छोटी होती हैं ।

खुलगई बात वह तो एक एक पर
तू अभी मुँह छिपाये जाता है ॥
रोइए क्या दिलो जिगर के तईं।
जी भी याँ पर तो हाय जाता है ॥
क्या किया है फ़लक[1] का मैं कि मुझे,
ख़ाक ही में मिलाये जाता है।
जाये ग़ैरत[2] है ख़ाकदाने जहाँ।
तू कहाँ मुँह उठाये जाता है ॥
देख सैलाबे[3] इस बियाबाँ[4] का।
क्या भला सर झुकाये जाता है ॥
वह तो बिगड़े हैं 'मीर' से हरदम।
अपने से यह बनाये जाता है ॥

---

(२६)

दिलशिताब[5] इस बज्मे इशरत[6] से उठाया चाहिये।
एक दिन तह कर बिसाते नाज़ जाया चाहिये ॥
यह क़यामत और जी पर कल गये पाये ज़मीन।
दिल ख़सो ख़ाशाके गुलशन से लगाया चाहिये ॥
खानःसाज़े दीं जो है वाज़े[7] सुयः ख़ानाख़राब।
ईंट की ख़ातिर जिसे मसजिद को ढाया चाहिये ॥

१—फ़लक = आकाश। २—जायेगैरत = लज्जा की जगह। ३—सैलाब = बाढ़, तूफ़ान। ४—बियाबाँ = जंगल। ५—दिलशिताब = भग्न-हृदय। ६—बज्मे इशरत = ऐश्वर्य और आनन्द सयुक्त सभा। ७—वाज़ = उपदेश।

क्यारियों ही में पड़ा रह जाय साये कि रविश[1] ।
अपने होते अबकी मौसिम गुल का आया चाहिये ॥
यह सितम ताज़ः कि अपनी कर किसी पर ना नज़र ।
जिनसे बिगड़ा चाहिये उनसे बनाया चाहिये ॥

---

(३०)

दीवानगी में गाह[2] हँसे गाह रो चुके ।
वहशत बहुत थी ताक़ते दिल हाय खो चुके ॥
इफ़राते इश्तियाक़[3] में समझे न अपना हाल ।
देखे हैं सोच करके तो अब हम भी हो चुके ॥
कहता है 'मीर' साँझ ही से आज दर्दे दिल ।
ऐसी कहानी गरचे बँधी है तो सो चुके ॥

---

(३१)

शोर मेरे जुनूँ[4] का जिस जा[5] है ।
दख़ले अक़्ल उस मुक़ाम में क्या है ॥
दिल में फिरते है ख़ालो[6] ख़त वो ज़ुल्फ़ ।
मुझको एक सर हज़ात सौदा[7] है ॥
शोर बाज़ार में है यूसुफ़ का ।
वह भी आ निकले तो तमाशा है ॥

१–रविश = सदृश । २–गाह = कभी । ३–इफ़राते इश्तयाक़ = शौक़ की ज़्यादती उत्कण्ठाधिक्य । ४–जुनूँ = पागलपन । ५–जा = स्थान । ६–ख़ाल = तिल । ७–सौदा = पागलपन ।

नज़र आये थे वे हिनाईपा[1]।
आज तक फ़ितना एक बरपा[2] है॥
दिल खिचे जाते है उसी की ओर।
सारे आलम की यह तमन्ना[3] है॥
बरसों रखता है दीदएतर[4] पर।
पाट दामन का अपने दरिया है॥
टुक गरेबाँ में सर को डाल के देख।
दिल भी दामन वसीय सेहरा[5] है॥
दिलकशी उसके क़द कि क्या मालूम।
सरो भी एक जवान राना[6] है॥
दस्तोपा गुम किये हैं तूने 'मीर'।
पीरी[7] बेताक़ती से पैदा है॥

---

(६२)

उस शोख़ सितमगर को क्या कोई भला चाहे।
जो चाहने वाले का हर तौर बुरा चाहे॥
काबे गये कोई क्या मक़सद[8] को पहुँचता है।
क्या सई[9] से होता है जब तक न ख़ुदा चाहे॥

१—हिनाईपा = मेहदी-रंजित (अथवा लाल) पद। २—बरपा = उत्पन्न। ३—तमन्ना = इच्छा। ४—दीदएतर = अश्रुपूर्ण नयन। ५—वसीय सेहरा = विस्तृत मरुस्थल। ६—राना = शृंगार-सज्जित, अभिमानी। ७—पीरी = वृद्धावस्था। ८—मक़सद = उद्देश्य। ९—सई = प्रयत्न, यहाँ हज करने से मतलब है।

सौरंग की जब ख़ूबी हम पाते हैं उस गुल में।
फिर उससे कोई उस बिन कुछ चाहे तो क्या चाहे ॥
हम इज्ज़[1] से पहुँचे हैं मक़सूद की मंज़िल को।
वह ख़ाक में मिल जावे जो उससे मिला चाहे ॥
जब तूने ज़बाँ छोड़ी तक काहे का उरफ़ा[2] है ॥
बेसरफ़ा कहे क्यों न जो कुछ कि कहा चाहे ॥
दिल जाने है जूँ रोके शबनम[3] ने कहा गुल से।
अब हम तो चले याँ से रह तू जो रहा चाहे ॥
ख़त रस्मे ज़माना थी हमने भी लिखा उसको ॥
तह दिलकी लिखे क्योंकर आशिक़ जो लिखा चाहे ॥
हम 'मीर' तेरा मरना क्या चाहते थे लेकिन।
रहता है हुए बिन कब जो कुछ कि हुआ चाहे ॥

(३३)

क्या पूछते हो आशिक़ रातों को क्या करे है।
गाहे बका करे है गाहे दुआ करे है ॥
दानिस्तः[4] अपने जी पर क्यों तू जफ़ा[5] करे है।
इतना भी मेरे प्यारे कोई लड़ा करे है ॥
यह फ़ितनए सपहर[6] भी बरबाद क्या करे है।
सो ख़ाब[7] में कभी तू मुझसे मिला करे है ॥

१–इज्ज़ = दीनता। २–उरफ़ा = अहसान। ३–शबनम = ओस। ४–दानिस्तः = बुद्धिमान। ५–जफ़ा = अत्याचार। ६–फ़ितनए सपहर = आकाश की धोकेबाज़ियाँ। ७–ख़ाब = स्वप्न।

हम तौरे इश्क़ से तो वाक़िफ़ नहीं है लेकिन ।
सीने में जैसे कोई दिल को मला करे है ॥
क्या कहना दाग़ेदिल का टुकड़ा जिगर है सारा ।
जाने वही जो कोई ज़ालिम वफ़ा करे है ॥
उस बुत के तर्ज़ की क्यों हम यों करें शिकायत ।
परदे में बदसलूकी[1] हमसे ख़ुदा करे है ॥
करम आके एक दिन वह सीने से लग गया था ।
तब से हमारी छाती हरशब[2] जला करे है ॥
क्या चाल यह निकाली होकर जवान तुमने ।
अब जब चलो हो दिल को ठोकर लगा करे है ॥
दुश्मन हो यार जैसे दर पै है ख़ूँ के मेरे ।
है दोस्ती जहाँ वाँ यों ही हुआ करे है ॥
समझा है यह कि मुझको ख़ाहिश[3] है ज़िन्दगी की ।
किस नाज़ से मुआलिजे[4] मेरी दवा करे है ॥
हालत में ग़शँ की किसको ख़त लिखने की है फ़ुरसत ।
अब ज़ब न तब उधर को जी ही जला करे है ॥
सरका है जब वह बुरक़ा तब आप भी गये हैं ।
मुँह खोलने से उसके अब जी छिपा करे है ॥
बैठे है यार आकर जिस जा पे एक साइत ।
हंगामए क़यामत[6] उससे उठा करे है ॥
सूराख़ सीने में है मत बन्द, हाथ रख, कर ।
उस रस्ते टुक जिगर से शोला उठा करे है ॥

१—बदसलूकी = दुर्व्यवहार । २—शब = रात । ख़ाहिश = इच्छा ।
३—मुआलिज = चिकित्सक । ४—ग़श = बेहोशी । ६—क़यामत = प्रलय ।

क्या जाने क्या तमन्ना रखते हैं यार से हम।
अन्दोह एक जी को अकसर रहा करे है॥
गुल ही की ओर हम भी आँखें लगा रखेंगे।
एक आध दिन जो मौसिम अब की वफ़ा करे है॥
गह सरगुज़श्त[1] आनी फ़रहाद की निकाले।
मजनूँ का गाहे क़िस्सा बैठा कहा करे है॥
एक आफ़ते ज़माँ है यह 'मीर' इश्क़पेशः।
परदे में सारे मतलब अपने अदा करे है॥

---

(३४)

यार बिन तल्ख़[2] ज़िन्दगानी थी।
दोस्ती मुद्दई-ए-जानी थी॥
सर से उसके हवा गई न कभू,
उम्र बरबाद यों ही जानी थी।
लुत्फ़ पर उसके हमनशीं मतजा,
कभू हम पर भी मेहबानी थी।
हाथ आता जो तू तो क्या होता,
बरसों तक हमने ख़ाक छानी थी।
शेब[3] में फ़ायदा तअम्मुल[4] का,
सोचना तब था जब जवानी थी।
मेरे क़िस्से से खोगईं नींदें,
कुछ अजब तौर की कहानी थी।

१—सरगुज़श्त = सर पर बीती। २—तल्ख़ = कड़ुवी। ३—शेब = बुढ़ापा। ४—तअम्मुल = विलम्ब, शोक।

आशिक़ी जी ही ले गई आख़िर,
यह बला कोई नागहानी[1] थी।
उस रुख़े आतिशीं[2] की शर्म से रात,
शमअ[3] मजलिस में पानी पानी थी।
कोई क़ातिल से बचके निकला ख़िज्र,
उसमें ही उसकी ज़िन्दगानी थी।
फ़िक्र पर भी था मीर के इक रंग,
कफ़नी पहनी सो ज़ाफ़रानी[4] थी।

——

(३५)

वह रब्त नहीं अब वह मुहब्बत नहीं रही।
उस बेवफ़ा को हमसे कुछ उलफ़त[5] नहीं रही॥
देखा तो मिस्ल अश्क[6] नज़र से गिरा दिया।
अब मेरी उसकी आँख में इज़्ज़त नहीं रही॥
जलने से जी के किसको रहा है दिमाग़े हर्फ़[7]।
दम लेने की भी हमको तो फ़ुरसत नहीं रही॥
थी ताव जी में जब तईं रंजोतअब खींचे।
वह जिस्म अब नहीं है वह क़ुदरत नहीं रही॥
मुनइम[8] अमल का तौर यह किस जीने के लिये।
जितने गये अब उतनी तो मुद्दत नहीं रही॥

१—नागहानी = जो एकाएक आ पड़े। २—रुख़े आतिशीं = अग्नि के समान दमकता हुआ जिसका चेहरा हो। ३—शमअ = दीपक, मोमबत्ती। ४—ज़ाफ़रानी = केसरिया। ५—उलफ़त = प्रेम, स्नेह। ६—अश्क = आँसू। ७—दिमागेहर्फ़ = क़िस्मत पर गर्व। ८—मुनइम = धनी, दानी।

दीवानगी से अपनी ही है सारी अक़्ल ख़ब्त।
इफ़राते इश्तियाक़[1] की हिम्मत नहीं रही॥
पैदा कहाँ हैं ऐसे परागन्दः[2] तब्अ लोग।
अफ़सोस तुमको 'मीर' से सोहबत नहीं रही॥

(३६)

या पहले की निगाहें जिनसे कि चाह निकले।
या अबकी ये अदाएँ जो दिल से आह निकले॥
क्योंकर न चुपके चुपके यों जान से गुज़रिये।
कैसे बताओ उससे बातों की राह निकले॥
तुम कितने बेरहम हो सोचो ज़रा तो दिल में।
मरजायँ हम तो मुँह से तेरे न आह निकले॥
ख़ूबी व दिलकशी में सदचन्द है तू उससे।
तेरे मुक़ाबिले को किस मुँह से माह[3] निकले॥
याँ मेहर थी, वफ़ा थी, वाँ जौर थे सितम थे।
फिर निकले भी तो मेरे ये ही गुनाह[4] निकले॥
ग़ैरों से तू कहे है अच्छी बुरी सब अपनी।
ऐ यार! कब के तेरे ये ख़ैरख़्वाह निकले॥
एक ख़ल्क़ 'मीर' के अब होती है आसताँ पर।
दरवेश निकले है क्यों जो बादशाह निकले॥

(३७)

मजनूँ व कोहकन के आसार[5] ऐसे ही थे।
यह जान से गये सब बीमार ऐसे ही थे॥

१—इफ़राते इश्तियाक़ = उत्कण्ठाधिक्य। २—परागन्दः = दीन, वृद्ध। ३—माह = चाँद। ४—गुनाह = पाप, अपराध। ५—आसार = लक्षण।

शम्शोक़मर[1] को देखे- जी उसमें जा रहे हैं।
उस दिलफ़िरोज के भी रुख़सार[2] ऐसे ही थे॥
लोहू न क्यों रुलाये उनका गुज़ार होना।
यह दिल जिगर हमारे ग़मख़ार ऐसे ही थे॥
हरदम जराहत आसा[3] कब रहते थे टपकते।
यह दीदए नमी[4] क्या ख़ूँबार[5] ऐसे ही थे॥
आज़ार[6] वह दिलों का जैसा कि तू है ज़ालिम।
अगले ज़माने में भी क्या यार ऐसे ही थे॥
हो जाय क्यों न दोज़ख़[7] बाग़े ज़माना हम पर।
हम बेहक़ीक़तों के करदार जैसे ही थे॥
दीवार से पटक सर मैं जो मुआ तो बोला।
कुछ इस सितम ज़दह[8] के आसार ऐसे ही थे॥
एक हर्फ़ का भी उनको दफ्तर है गर दिखाना।
क्या कहिए 'मीर' जी के बिस्तार ऐसे ही थे॥

---

(३८)

तुझ कने बैठे घुटा जाता है जी।
काहिशें[9] क्या क्या उठा जाता है जी॥

१-शमशोक़मर = सूर्य-चन्द्र। २-रुख़सार = कपोल। ३-जराहत आसा = घाव की तरह। ४-दीदए नमीं = अश्रुमय नयन। ५-ख़ूँबार = रक्तमय। ६-आज़ार = रोग। ७-दोज़ख = नरक। ८-सितमज़दह = अत्याचार पीड़ित। ९-काहिशें = विपत्तियाँ, दुःख, सदमे।

यों तो मुरदे से पड़े रहते हैं हम।
पर वह आता है तो आजाता है जी॥
हाय उसके शरबती लब[1] से जुदा[2]।
कुछ बतासा सा घुला जाता है जी॥
अबकी उसकी राह में जोहो सो हो।
या तो आता ही है या जाता है जी॥
क्या कहें तुमसे कि उस शोले[3] बग़ैर।
जी हमारा कुछ जला जाता है जी॥
इश्क़ आदम[4] में नहीं कुछ छोड़ता।
हौले हौले कोई खा जाता है जी॥
उठ चले पर उसके ग़श[5] करते हैं हम।
यानी साथ उसके चला जाता है जी॥
आ[6]! नहीं फिरता वह मरते वक्त भी।
हैफ़ है उसमें रहा जाता है जी॥
रखते थे क्या क्या बलायें पेश्तर।
सो तो अब आपी ढहा जाता है जी॥
आसमाँ शायद [7]दरे कुछ आगया।
रात से क्या क्या रुका जाता है जी॥
काश के बुरक़ा रहे उस रुख़ पै 'मीर'।
मुँह खुले उसके छिपा जाता है जी॥

१–लब = ओष्ठ, अधर। २–जुदा = अलग। ३–शोला = लपट, अग्निस्फुलिंग। ४–आदम = मनुष्य। ५–ग़श = बेहोशी। ६–आ = आह का संक्षिप्त रूप है। ७–दूरे = पास।

(३६)

कुछ बात है कि गुल तेरे रंगीं देहाँ सा है।
या रंग लाला शोख़ तेरे रंगे पाँ सा है ॥
आया है ज़ेरेज़ुल्फ़[1] जो रुख़सार[2] का सतह।
याँ साँझ के तईं भी सेहर[3] का समाँ सा है ॥
है जी की लाग और कुछ ऐ फ़ाख़्ता वले।
देखे न कोई सरो चमन उस जवाँ सा है ॥
क्या जानिये कि छाती जली है कि दाग़े दिल।
एक आग सी लगी है कहीं कुछ धुआँ सा है ॥
उसकी गली की ओर तो हम तीर से गये।
गो क़ामतेख़मीदा[4] हमारा कमाँ सा है ॥
जो है सो अपने फ़िक्र में है यार के यहाँ।
सारा जहान राह में एक कारवाँ सा है ॥
काबे की यह बुज़ुर्गी शरफ़[5] सब बजा है लेक।
दिलकश[6] जो पूछिए तो कब इस आसताँ सा है ॥
आशिक़ की गोर[7] पर भी कभू तो चला करो।
क्या अब वहाँ रहा है यही कुछ निशाँ सा है ॥
रोज़े तबीब उसका सुने इश्तियाक़[8] था।
आया नज़र जो 'मीर' तो कुछ नातवाँ[9] सा है ॥

१—ज़ेरे ज़ुल्फ़=ज़ुल्फ़ के नीचे। २—रुख़सार=कपोल। ३—सेहर=प्रातःकाल। ४—क़ामतेख़मीदा=झुका हुआ शरीर। ५—शरफ़=बड़ाई, शराफ़त, बड़प्पन। ६—दिलकश=चित्ताकर्षक। ७—गोर=क़ब्र। ८—इश्तियाक़=शौक। ९—नातवाँ=कमज़ोर।

(४०)

या बादए गुलगूँ की ख़ातिर से हविस जावे।
या अब्र कोई आवे और आके बरस जावे॥
शोरिश कदहे आलम कहने ही की जगह थी।
दिल क्या करे जो ऐसे हंगामे में फँस जावे॥
दिल तो है अबस नालाँ याराने गुज़श्तः[1] बिन।
मुमकिन नहीं अब उन तक आवाज़े जरस[2] जावे॥
इस जुल्फ़ से लग चलना एक साँप खिलाना है।
यह मारे सियह यारो नागाह[3] न डस जावे॥
मैख़ाने[4] में आवे तो मालूम हो कैफ़ीयत[5]।
यों आगे हो मसजिद के हररोज़ अबस जावे।
चोली जहाँ से मसकी फिर आँखें वहीं चिपकीं।
जब पैरहने गुल इस ख़ूबी से चलन जावे॥
है 'मीर' अजब कोई दरवेश बरश्तः दिल।
बात उसकी सुनो तुमतो छाती ही झुलस जावे॥

---

(४१)

जब नसीमे सेहर[6] इधर जा है।
एक सनाटा इधर गुज़र जा है॥
क्या उस आईनःरू से कहिये हाय।
वह ज़बाँ[7] करके फिर मुकर जा है॥

१-यारान गुज़िश्तः = भूत या मृत मित्र। २-जरस-धौंसा। ३-नागाह = अचानक, एकबारगी। ४-मैख़ाना = मद्यालय। ५-क़ैफ़ियत = हालत, अवस्था। ६-नसीमेसेहर = प्रभाती वायु। ७-ज़बाँ करके = वचन देकर, प्रतिज्ञा करके।

जब से समझा कि हम चलाऊ हैं।
हालपुरसी[1] टुक आके करजा है॥
वह खुले-बाल सोवे है शायद।
रात को जी मेरा बिखर जा है॥
दूर अगरचः गया हूँ मैं जी से।
कब वतन[2] मेरे यह ख़बर जा है॥
वह अगर चित चढा रहा ऐसा।
आजकल जी से मह[3] उतर जा है॥
जी नहीं 'मीर' में न बोलो तुन्द[4]।
बात कहते अभी वह मरजा है॥

---

(४२)

दुज़्दीदः[5] निगह करना फिर आँख मिलाना भी।
इस टूटते दामन को पास आके उठाना भी॥
पामालिए[6] आशिक़ को मंज़ूर[7] किये जाना।
फिर चाल की ढब चलना ठोकर न लगाना भी॥
बुरक़े को उठा देना पर आधे ही चेहरे से।
क्या मुँह को छिपाना भी कुछ झलक दिखाना भी॥
देख आँखें मेरी नीचे एक मारना कंकर भी।
ज़ाहिर में सताना भी परदे में जताना भी॥

१–हालपुरसी = सहानुभूतिपूर्वक हालचाल पूछना। २–वतन = स्वदेश। ३–मह = चन्द्र। ४–तुन्द = तेज। ५–दुज़्दीदः निगह = (दिल) चुराने वाली आँखें। ६–पामाल करना = कुचलना। ७–मंज़ूर = स्वीकार।

सोहबत है यह वैसी ही ऐ जान की आसाइश।
साथ आन कर सोना भी फिर मुँह को छिपाना भी ॥

---

(४३)

इन दिलवरों को देख लिया बेवफ़ा[1] हैं ये।
बेदीदो[2] बेमुरव्वत[3] नाआशना हैं ये ॥
यों तो हैं ये सितमगर[4] पर देखिये जो ख़ूब।
हैं आरज़ू[5] दिलों की भी ये मुद्दआ[6] हैं ये ॥
अब हौसला करे हैं हमारा भी तंग यों।
जाने भी दो बुतों[7] के तईं क्या खुदा हैं ये ॥
गुल फूल उस चमन के चलो सुबह देख लें।
शबनम[8] के रंग पर कोई दम में हवा हैं ये ॥
किस दिल में ख़ूबरूयों की ख़ाली नहीं जगह।
मग़रूर[9] अपनी ख़ूबी के ऊपर बजा हैं ये ॥
हरचन्द इनसे बरसों छिप हम मिला किये।
जाहिर न वले फिर भी हुआ हम पै क्या हैं ये ॥
क्या जानो 'मीर' साहब क़िबलः के ढब को तुम।
ख़ूबी मुसल्लिम[10] इनकी वले फिर बला हैं ॥

१—बेवफ़ा = कृतघ्न। २—बेदीद = आँखरहित। ३—बेमुरव्वत = शीलहीन। ४—सितमगर = अत्याचारी। ५—आरज़ू = इच्छा। ६—मुद्दआ = मतलब। ७—बुत = मूर्त्ति, उर्दू कवि प्रियतम के लिये प्रयुक्त करते हैं। ८—शबनम = ओस। ९—मग़रूर = अभिमानी। १०—मुसल्लिम = पूर्ण।

(४४)

यों हम बराय बैत जो बेख़ानमाँ रहे।
सो यों रहे कि जैसे कोई मेहमाँ रहे॥
था मुल्क जिनके ज़ेरनगीं[1] साफ़ मिट गये।
तुम इस ख़याल में हो कि नामो निशाँ रहे॥
आँसू चले ही आने लगे मुँह प मुत्तसिल[2]।
क्या कीजिये कि राज़े मुहब्बत[3] निहाँ[4] रहे॥
हम जब नज़र पड़ें तो वह अबरू को ख़म करे।
तेग़ अपने उसके कब तलक यों दरमियाँ रहे॥
कोई भी अपने सर को कटाता है यों वले।
जूं शमअ क्या कहें।जो न मेरी ज़बाँ रहे॥
ये दोनों चश्म ख़ून से भर दूँ तो ख़ूब है।
सैलाब[5] मेरी आँखों से कब तक रवाँ[6] रहे॥
मक़सूद[7] गुम किया है तब वैसा है इज़तिराब-।
चक्कर में वर्ना काहे को यों आसमाँ रहे॥
क्या अपनी उनकी तुमसे बयाँ कीजिये मुआश[8]।
कहीं मुद्दतों रखा जो तनिक मेहरबाँ रहे॥
गह शाम उसके मुँह से है उसके लिये सुबह।
तुम चाहे हो कि एक सा ही याँ समाँ रहे॥
क्या नज़रे तेग़े इश्क़ को सरसब्ज़ मैं किया।
इस मारके में खेत बहुत ख़िस्तःजाँ[9] रहे॥

१—ज़ेरनगी = निरीक्षण में। २—मुत्तसिल = लगातार। ३—राज़ेमुहब्बत = प्रेम-रहस्य। ४—निहाँ = गुप्त। ५—सैलाब = बाढ़। ६—रवाँ = जारी। ७—मक़सूद = लक्ष्य। ८—मुआश = जीवन। ९—ख़िस्त:जाँ = अल्पप्राण।

एक क़ाफ़िले से गर्द हमारी न टुक उठे।
हैरत है 'मीर' अपने तईं हम कहाँ रहे॥

---

(४५)

क्या हाल बयाँ करिये अजब तरह पड़ी हैं।
वह तबअ[1] तो नाज़ुक है कहानी यह बड़ी है॥
क्या फ़िक्र करूँ मैं कि टले आगे से गरदूँ[2]।
यह गाड़ी मेरी राह में बेडौल अड़ी है॥
है चश्म के अंजुम[3] तरफ़ इस महके इशारा।
देखो तो मेरी आँख कहाँ जाके लड़ी है॥
क्या अपनी शररेज़ी कहें पलकों के सफ़[4] की।
हम जानते हैं हम प जो यह बाढ़ चढ़ी है॥
वे दिन गये जो पहरों लगी रहती थीं आँखें।
अब याँ हमें मुहलत[5] कोई पल कोई घड़ी है॥
ऐसा न हुआ होगा कोई वाक़या[6] आगे।
यों ख़ाहिशें[7] दिल साथ बीते एक घड़ी है॥
क्या नक़्श में मजनूँ है कि थी रफ़्तगीए इश्क़।
लैला की भी तसवीर तो हैरान खड़ी है॥
जाते हैं चले मुत्तसिल[8] आँसू जो हमारे।
हर तारे निगह आँखों में मोती की लड़ी है॥
गुल खाते हैं इफ़रात[9] से हम इश्क़ में उसके।
अब हाथ मेरा देखो तो फूलों की छड़ी है॥

१—तबअ = तबियत, हृदय। २—गरदूँ = आकाश। ३—अंजुम = तारा। ४—सफ़ = पंक्ति। ५—मुहलत = अवकाश। ६—वाक़या = घटना। ७—ख़ाहिशेदिल = हृदय की अभिलाषा। ८—मुत्तसिल = लगातार। ९—इफ़रात = पर्याप्तता।

(४६)

इलाही कहाँ मुँह छिपाया है तूने।
हमें खो दिया है तेरी जुस्तजू[1] ने ॥
जो ख़्वाहिश न होती तो काहिश न होती।
हमें जी से मारा तेरी आरज़ू ने ॥
न आई तुझे मेरी बातें वगरनां[2]।
रखी धूम शहरों में इस गुफ्तगू ने ॥
रक़ीबों[3] से सर जोड़ बैठे हो क्योंकर।
हमें तो नहीं देते टुक पाँव छूने ॥
फिर इस साल से फूल सूँघा ज़मीं ने।
दीवाना किया था मुझे तेरी बू ने ॥
मुदा'वा न करना था मुशफ़िक़[4] हमारे।
जराहत[5] जिगर के लगे दुखने रोने ॥
कुढ़ाया किसू को खपाया किसू को।
बुराई ही की सबसे उस खूबरू ने ॥
वहँ[6] कसरा कि है शोर जिनका जहाँ में।
पडे हैंगे उनके महल आज सूने ॥
तेरी चाल टेढ़ी तेरी बात रूखी।
तुझे 'मीर' समझा है याँ कम किसू ने ॥

१–जुस्तजू = अन्वेषण। २–वगर्ना = अन्यथा। ३–रकीब = प्रतिद्वन्द्वी। ४–मुशफ़िक़ = मित्र, कृपालु। ५–जराहत = घाव। ६–क़सरा = सम्राट्।

(४७)

चमन[1] को याद कर मुर्गे़ क़फ़स[2] फ़रियाद[3] करता है।
कोई ऐसा सितम[4] दुनिया में ऐ सय्याद[5] करता है॥
हुआ ख़ानाख़राब आँखों का अश्कों[6] से भरे हैं यह।
रहे सैलाब[7] में कोई भी घर बुनियाद करता है॥
उभर ऐ नक़्शे शीरी बेसतूँ ऊपर तमाशा कर।
कि कारस्तानियाँ तेरे लिये फ़रहाद करता है॥

---

(४८)

सुबह है कोई आह कर लीजै।
आसमाँ को सियाह कर लीजै॥
चश्मे गुल बाग़ में मुँदी जा है।
जोही हो एक निगाह कर लीजै॥
अब्रे रहमत है जोश में उसका।
यानी साक़ी[8] गुनाह[9] कर लीजै॥

---

(४९)

जल गया दिल मगर ऐसी जो बला निकले है।
जैसे लू चलती मेरे मुँह से हवा निकले है॥

१—चमन = उद्यान। २—मुर्गे़क़फ़स = पिंजरबद्ध पक्षी। ३—फ़रियाद = विनती। ४—सितम = अत्याचार। ५—सय्याद = व्याधा। ६—अश्क = आँसू। ७—रहेसैलाब = तूफ़ान की राह। ८—साक़ी = मद्य पिलाने वाला। ९—गुनाह = पाप।

मैं जो हरसू[1] लगूँ हूँ देखने होकर मुज़तर।
आँसू हर मेरे निगह साथ कभू निकले है॥
पारसाई[2] धरी रह जायगी मसजिद में शेख़।
जो वह इस राह कभू मस्ती में आनिकले है॥
गोकि परदा करे जूँ माह शबे अब्र[3] वह शोख़।
कब छिपा रहता है हरचन्द छिपा निकले है॥
भीड़ें टल जाती हैं आगे से उस अबरू के हिले।
सैकड़ों में से वह तलवार चला निकले है।
बनती है सामने उसके किये सिजदा ही बले।
जी समझता है जो उस बुत में अदा निकले है॥
बद कहें नाल:कुशाँ हम हैं कि हम से हर रोज़।
शोरो हंगामे का एक तौर[4] नया निकले है॥
अजरें[5] से ख़ाली नहीं इश्क़ में मारे जाना।
देहै जो सर कोई याँ भी वह कुछ पा निकले है॥*
लग चली है मगर इस गेसुए अम्बर[6] बू से।
नाज़ करते हुए इस राह सबा निकले है॥
क्या है इक़बाल कि उस दुश्मनेजाँ के आते।
मुँह से हर एक के सौबार दुआ निकले है॥

१—हरसू = चतुर्दिक्। २—पारसई = पवित्रता। ३—अब्र = बादल। ४—तौर = ढंग। ५—अजर = फल। ६—गेसुए अम्बर बू = सुगंधित अलकों की सुगंधि।

* किसी दूसरे शायर ने भी कहा है—
जिसने दिल खोला उसी को कुछ मिला।
फ़ायदा देखा इसी नुकसान में॥

सोज़[1] सीने का भी दिलचस्प बला है अपना।
दाग़ हो निकले है छाती से लगा निकले है॥
सारे देखे हुए हैं ये सब अत्तारो तबीब[2]।
दिल की बीमारी की किस पास दवा निकले है॥
क्या फ़रेबन्दः है रफ़्तार[3] ही कीने की ख़ुदा।
और गुफ़्तार[4] से कुछ प्यार जुदा निकले है॥
वैसा बेजा नहीं दिल 'मीर' का जो रह न सके।
चलता फिरता कभू उस पास भी जा निकले है॥

---

(५०)

क्या काम किया हमने दिल यों तो लगाना था।
इस जान की जोखूँ को उस वक़्त न जाना था॥
था जिस्म[5] का तर्क[6] अच्छा अय्याम[7] में पीरी[8] के।
जाता था जला हरदम जामा भी पुराना था॥
हर आन थी सरकोशी या बात नहीं गाहे।
औक़ात है एक यह भी एक वह भी ज़माना था॥
पामाली अज़ीज़ों की रखते तो नज़र में टुक।
इतना भी तुम्हें आकर याँ सर न उठाना था॥
एक महो तमाशा हैं सुन गर्म इस क़िस्से को।
याँ आज जो कुछ देखा सो कल वह फ़िसाना था॥

१—सोज़=गरमी। २—तबीब=डाक्टर, चिकित्सक। ३—रफ्तार= चाल, गति। ४—गुफ्तार=बातचीत। ५—जिस्म=शरीर। ६—तर्क= त्याग। ७—अय्याम=दिन। ८—पीरी=वृद्धावस्था।

क्यों कर गली से उसके मैं उठके चला जाता।
याँ ख़ाक में मिलना था लोहू में नहाना था॥
जो तीर चला उसका सो मेरी तरफ़ आया।
इस इश्क़ के मैदाँ में मैं ही तो निशाना था॥
जब तूने नज़र फेरी तब जान गई उसकी।
मरना तेरे आशिक़ का मरना कि बहाना था॥
कब और ग़ज़ल कहता मैं इस ज़मीं में लेकिन।
परदे में मुझे अपना अहवाल[1] सुनाना था॥
कहता था किसू से कुछ तकता था किसू का मुँह।
कल 'मीर' खड़ा था याँ सच है कि दिवाना था॥

---

(५१)

दिल रात दिन रहे है सीने में इश्क़ मलता।
हरचन्द चाहता हूँ पर जी नहीं सँभलता॥
अब तो बदन में सारे एक फुँक रही है आतिश[2]।
वह मह[3] गले से लगता तो यों जिगर न जलता॥
शब[4] माहचार वह था किस हुस्न से नुमायाँ[5]।
होता बडा तमाशा जो यार भी निकलता॥
ऐ रश्केशमअ[6] गोया तू मोम का बना है।

१—अहवाल = हाल का बहुवचन। २—आतिश = अग्नि। ३—मह = चाँद। ४—शब = रात। ५—नुमायाँ = प्रगट। ६—रश्केशमअ = मोमबत्ती को भी डाह हो जिसे देखकर।

मजलिस[1] में मैं तुझी को देखा है यूँ पिघलता।
रोने का जोश ऐसा आँखों को है इलाही।
जैसे हो रूद[2] कोई बरसात में उबलता॥
करता है वे सलूकें[3] अब जिससे कि जान जावे।
हम 'मीर' यों न मरते उसपर जो जी न चलता॥

---

(५२)

क्या कहे हाल कहीं दिलज़दह जाकर अपना।
दिल न अपना है मुहब्बत में दिलवर अपना॥
दूरिये यार में है हाले दिल अबतर अपना।
हमको सौ कोस से आता है नज़र घर अपना॥
एक घड़ी साफ़ नहीं हमसे हुआ यार कभी।
दिल भी जूँ शीशए साइत है मुकद्दर[4] अपना॥
किस तरह हर्फ़ हो नासह[5] का मुअस्सर[6] हममें।
सख्तियाँ खींचते ही दिल हुआ पत्थर अपना॥
कैसी रुसँवाई[7] हुई इश्क़ में क्या नक्ल करें।
शहरो क़सबात में मज़कूर[8] है घर घर अपना॥
तुझसे बेरहम के लग लगने न देते हरगिज़।
ज़ोर चलता अगर कुछ चाह में दिल पर अपना॥

१—मजलिस = सभा। २—रूद = बाढ़ की नदी। ३—सलूक = व्यवहार। ४—मुकद्दर = कदूरत से भरा हुआ, गदला। ५—नासह = उपदेशक। ६—मुअस्सर = प्रभावकारी। ७—रुसवाई = बदनामी। ८—मज़कूर = जिसका जिक्र हो।

पेश कुछ आवे हम तय्यार हैं हरसूरत से।
मिस्ल आईना नहीं छोड़ते हम घर अपना ॥
दिल बहुत खींचती है यार के कूचे[1] की ज़मीन।
लोहू इस खाक पर गिरना है मुकर्रर[2] अपना ॥
'मीर' खत पहुँचे पै अब रंग उड़ा जाता है।
कि कहाँ बैठे किधर जावे कबूतर अपना ॥

---

(५३)

तेरी पलकें चुभती नज़र में भी हैं।
ये काँटे खटकते जिगर में भी हैं ॥
रहे फिरते दरिया में गरदाब से।
वतन में भी हैं हम सफ़र में भी हैं ॥
न भूलो नज़ाकत लचक है नहीं।
छुरे खंजर उसकी कमर में भी हैं ॥
दिलो दिल्ली दोनों अगर हैं खराब।
पै कुछ लुत्फ़ उस उजड़े घर में भी हैं ॥
चलो 'मीर' के तुम तजस्सुस[3] के बाद।
कि वे वहशी[4] तो अपने घर में भी हैं ॥

१–कूचा = गली। २–मुक़र्रर = निश्चित। ३–तजस्सुस = अन्वेषण।
४–वहशी = जंगली।

(५४)

कहते हैं बहारें[1] आई गुल फूल निकलते हैं।
हम कुंजे क़फ़स मे हैं दिल सीनों में जलते हैं॥
अब एक सी बेहोशी रहती नहीं है, हमको।
कुछ दिल भी सँभलते है पर देर सँभलते हैं॥
वह लौ तो नहीं छूटी जो रोना ही रोना था।
अब दीदएतर अक्सर दरिया से उबलते हैं॥
इन पावों को आँखों से हम मलते रहे जैसा।
अफ़सोस से हाथों को अब वैसे ही मलते हैं॥
क्या कहिये कि आज़ा[2] सब पानी हुए हैं अपने।
हम आतिशे हिजराँ[3] में यों ही पड़े गलते हैं॥
करते हैं सिफ़तें[4] जब हम लाले लबे जानाँ[5] की।
तब कोई हमें देखे क्या लाल उगलते हैं॥
गुल फूल से हैं अपने दिल तो नहीं लगते टुक।
दिल लोगों के न जाने किस तौर बहलते हैं॥

---

(५५)

रोते हैं नालःकश में या रात दिन जले हैं।
हिजराँ में उसकी हमको बहुतेरे मशग़ले हैं॥
जूँ दूद[6] उम्र गुज़री सब पेंचोताब ही में।
इतना सुना न ज़ालिम हम भी जले बले हैं॥

१—बहार = बसन्त। २—आज़ा = अंग। ३—आतिशेहिजराँ = वियोगाग्नि। ४—सिफ़त = गुण। ५—लबेजानाँ = प्रियतम के ओष्ठ ६—दूद = धुआँ।

मरना है ख़ाक होना हो ख़ाक उड़ते फिरना।
इस राह में अभी तो दरपेश मरहले हैं॥
किस दिन चमन में यारब होगी सबा गुलअफ़शाँ[1]।
कितने शिकस्तःपर[2] हम दीवार के तले हैं॥
जब याद आ गये हैं पाये हिनाई[3] उसके।
अफ़सोस से हम अपने तब हाथ ही मले हैं॥
था जो मिज़ाज अपना सो तो कहाँ रहा है।
पर निस्वतें[4] अगली तो भी हम इन दिनों भले हैं॥
एक शोर ही रहा है दीवानेपन में अपने।
ज़ंजीर से हिले हैं गर कुछ भी हम हिले हैं॥
पुस्तो बुलन्द देखीं क्या 'मीर' पेश आये।
इस दश्त[5] से हम अब तो सैलाब[6] से मिले हैं॥

---

(५६)

भला हुआ कि दिलेमुज़तरिबँ[7] में ताब नहीं।
बहुत ही हाल बुरा है अब इज़तिराब नहीं॥
जिगर का लोहू जो पानी हो बह निकलता है।
सो हो चुका कि मेरी चश्म अब पुरआब नहीं॥
दयारे[8] हुस्न में दिल की नहीं ख़रीदारी।
वफ़ा मुतायँ[9] है अच्छी पै याँ की बात नहीं॥

१–गुलअफ़शाँ = फूल खिलानेवाली। २–शिकस्तः पर = परकटे। ३–पाये हिनाई = मेंहदी रंजित पद। ४–निस्बत = उपेचा। ५–दश्त = जंगल। ६–सैलाब = बाढ़। ७–मुज़तरिब = दुःखी। ८–दयारेहुस्न = सौन्दर्य-प्रान्त। ९–मुताय = जिन्स।

हिसाब पाक हो रोज़े शुमार में तो अजीब ।
गुनाह इतने हैं मेरे कि कुछ हिसाब नहीं ॥
गुज़र है इश्क़ की बेताक़ती से मुश्किल आह ।
दिनों को चैन नहीं है शबों को ख़ाब नहीं ॥
जहाँ के बाग़ का यह ऐश है कि गुल के रंग ।
हमारे जाम[1] में लोहू है सब, शराब नहीं ॥
तलाश 'मीर' की अब मैकदों[2] में काश करें ।
कि मसजिदों में तो वह खानमाँ खराब नहीं ॥

---

(५७)

हमको कहने के तईं बज़्म[3] में जा[4] देते हैं ।
बैठने पाते नहीं हमको उठा देते हैं ॥
देर रहता है हुमा[5] लाश पे ग़मकुश्तों[6] के ।
इश्तख़ाँ उनके जले कुछ तो मज़ा देते हैं ॥
उस शहे हुस्न का इक़बाल कि ज़ालिम के तईं ।
हर तरफ़ सैकड़ों दरवेश[7] दुआ देते हैं ॥
मिलते ही आँख मिली उसकी तो बरहम[8] बेतह ।
ख़ाक में आपको फ़िलफ़ोर[9] मिला देते हैं ॥

१–जाम = प्याला । २– मैक़दा = मद्यालय । ३– बज़्म = महफ़िल । ४–जा = जगह । ५–हुमा = एक चिड़िया, जिसकी छाया पड़ने से मनुष्य बादशाह हो जाता है । ६–ग़मकुश्तः = दुख-विदीर्ण । ७—दरवेश = फ़क़ीर । ८–बरहम = बिखरा । ९–फ़िलफोर = फटपट ।

(५८)

ऐ काश मेरे दर पर एक बार वह आ जाता।
ठहराव सा हो जाता यों जी न चला जाता॥
तब तक ही ख़ैरियत है जब तक नहीं आता वह।
इस रस्ते निकलता तो हम से न रहा जाता॥
एक आग लगा दी है छाती में जुदाई[1] ने।
वह गर गले लगता तो यों दिल न जला जाता॥
या लाग की वे बातें ऐसी ही थीं बेज़ारी[2]।
वह जो न लगा लेता तो मैं न लगा जाता॥
क्या नूरे तजल्ली[3] है चेहरे पै कि शबें[4] महें[5] में।
मुँह खोले जो सो रहता तो माह छिपा जाता॥
उस शोख ने दिल की भी क्या बात बढ़ाई है।
रुक्का उसे लिखते तो तूमार लिखा जाता॥
यह हमदमी कि दावा उसके लबे खन्दाँ से।
बस कुछ न चला वर्ना पुस्ते को चबा जाता॥
अब तो न रहा वह भी ताकत गई सब दिल की।
जो हाल कभू अपना मैं तुमको सुना जाता॥
विस्वास न करता था मर जाने से हिजराँ में।
था 'मीर' तो ऐसा भी दिल जैसे उठा जाता॥

१–जुदाई = वियोग । २–बेज़ारी = बेचैनी । ३–नूरे तजल्ली = ईश्वरीय ज्योति । ४–शब = रात । ५–मह = चाँद ।

(५६)

बाज़ार में हो जाना उस मह का तमाशा था।
यूसुफ़ भी जो वाँ होता तो उसपै बिका जाता ॥
देखा न इधर वर्ना आता न नज़र फिर मैं।
जी मुफ्त मेरा जाता उस शोख़ का क्या जाता ॥
शब आह शररअफ़शाँ[1] होठों से फिरे मेरे।
सर खींचता यह शोला तो मुझको जला जाता ॥
क्या शौक की बातों की तहरीरें[2] हुईं मुश्किल।
थे जमा क़लम काग़ज़ पर कुछ न लिखा जाता ॥
आँखें मेरी खुलतीं तो उस चेहरे ही पै पड़तीं।
क्या होता यकायक वह सर पर मेरे आ जाता ॥
है शौक़ सियहरू[3] से बदनामी व रुसवाई।
क्यों काम बिगड़ जाता जो सब्र किया जाता ॥
था 'मीर' भी दीवाना पर साथ ज़राफ़त[4] के।
हम सिलसिल वारों की ज़ंजीर हिला जाता ॥

---

(६०)

दर पर से तेरे अबकी जाऊँगा तो जाऊँगा।
याँ फिर अगर आऊँगा सैयद न कहाऊँगा ॥

१—शररअफ़शाँ = चिनगारी निकालनेवाली, अग्निस्फुलिंगोत्पादिका। २—तहरीर = लिखावट। ३—सियहरू = काले मुँहवाला, पापी, अत्याचारी। ४—ज़राफत = दिल्लगी, विनोद।

यह नज़र बदी ही में काबे से जो उठना हो।
बुतख़ाना में जाऊँगा जुन्नार[1] बँधाऊँगा॥
आज़ार[2] बहुत खींचे यह अहद[3] किया है अब।
आइन्दा किसूसे मैं दिल को न लगाऊँगा॥
सरगर्म तलब होकर खोया गया मैं आपी।
क्या जानिये पाऊँगा या उसको न पाऊँगा॥
गर मीर हूँ चुपकासा पर तुर्फ़ा[4] हुनरवर हूँ।
बिगड़ेगा न टुक वह तो सौ बातें सुनाऊँगा॥

---

(६१)

दिल को गुल कहते थे दर्दो ग़म से मुरझाया गया।
जी को मेहमाँ सुनते थे मेहमान सा आया गया॥
इश्क़ से हो जान जी में कुछ तो कहिये देखिये।
एक दिन बातें ही करते करते कुम्हिलाया गया॥
जुस्तजू[5] में यह तअज्जुब खिंच के आखिर[6] हो गये।
हम तो खोये भी गये लेकिन न तू पाया गया॥
एक निगह करने में ग़ारतँ[7] कर दिया ऐ वाय हम।
दिल जो सारी उम्र का था अपना सरमाया[8] गया॥
क्या तअज्जुब है जो कोई दिलज़दह नागह मेरे।
इज़्तराबेइश्क़[9] में जी तन से घबराया गया॥

१—जुन्नार = यज्ञोपवीत। २—आज़ार = दुःख। ३—अहद = प्रतिज्ञा। ४—तुर्फ़ा = विचित्र। ५—जुस्तजू = अन्वेषण। ६—आख़िर = समाप्त। ग़ारत = नष्ट। ८—सरमाया = पूँजी। ९—इज़्तिराबेइश्क़ = प्रेम के कष्ट।

जैसे परछाईं दिखाई देके हो जाती महो[1]।
'मीर' भी उस कामजाने दो में था साया[2] गाया॥

---

(६२)

वह नहीं अब कि फरेबों से लगा लेते हैं।
हम जो देखे हैं तो वह आँखें छिपा लेते हैं॥
कुछ तफ़ावत[3] नहीं हस्ती[4] वो अदम[5] में हम भी।
उटके अब क़ाफिलये रफ्तः को जा लेते हैं॥
नाज़की[6] हाय रे तालअ[7] की न कोई से कहो।
फूल सा हाथों में हम उसको उठा लेते हैं॥
सोहबत आख़िर को बिगड़ती है दरअन्दाजी में।
क्या दरअन्दाज भी एक बात बना लेते हैं॥
हम फ़क़ीरों को कुछ आज़ार तुम्हीं देते हो।
यों तो इस फ़िरक़े से सब लोग दुआ लेते हैं॥
चाक सीने की हमारी नहीं सीनी अच्छी।
इन्हीं रखनों से दिलोजान हवा लेते है॥
'मीर' क्या सादे हैं बीमार हुए जिसके सबब।
उसी अत्तार के लड़के से दवा लेते हैं॥

१—महो = लीन, नाश। २—पाया = छाया। ३—तफ़ावत = अन्तर। ४—हस्ती = सत्ता, भाव। ५—अदम = अभाव, जिसकी सत्ता न हो। ६—नाज़की = सूक्ष्मता। ७—तालअ = क़िस्मत।

(६३)

बाग़ में सैर कभू हम भी किया करते थे।
रविशे[1] आबेरवाँ[2] पहले फिरा करते थे॥
ग़ैरते इश्क़ किसू वक़्त बला थी हमको।
थोड़ी आजुर्दगी में तर्के वफ़ा करते थे॥
दिल की बीमारी से ख़ातिर नहीं यह थी हमदम।
लोग कुछ यों ही मुहब्बत से वफ़ा करते थे॥
जब तलक शर्म रही, मानयेशोख़ी[3] उसके।
तब तलक हम भी सितमदीदः[4] हया[5] करते थे॥
मायलेकुफ़्र[6] जवानी में बहुत थे हमलोग।
देर[7] में मसजिदों से दूर रहा करते थे॥
आतिशेइश्क़[8] जहाँ सोज़ की लपटें वहीं रूह[9]।
दिल जिगर जाने दरूनी में जुदा करते थे॥
अब तो बेताबिएदिल[10] ने हमें बिठला ही दिया।
आगे रंजो तअबे इश्क़ उठा करते थे॥
उठ गई पर मेरे तकिये को कहेंगे याँ 'मीर'।
दर्देदिल बैठे कहानी सी कहा करते थे॥

——

१—रविश = सदृश। २—आबेरवाँ = बहता हुआ पानी। ३—मानए-शोख़ी = शरारत रोकनेवाली। ४—सितमदीदः = अत्याचारी। ५-हया = लज्जा। ६—मायले कुफ़्र = काफ़िरत (अधर्म) की ओर आकृष्ट। ७—देर = मन्दिर। ८—आतिशेइश्क = प्रेमाग्नि। ९—रूह = प्रलय। १०—बेताबिए-दिल = हृदय की बेचैनी।

(६४)

इन हिनाई दस्तोपा से दिल्लगी सी है अभी।
मैंने नाखुनबन्दी अपने इश्क़ में की है अभी॥
हाथ दिल पर ज़ोर से अपने न रक्खा चाहिये।
चाक की छाती मेरी जर्राह ने सी है अभी॥
एकदम दिखलाई देता भी तो आ मरता कहीं।
शौक़ से आँखों में मेरा है कोई दम जी अभी॥
किस तरह हों मोतक़िद[1] हम एतक़ादे[2] शेख़ के।
सुबह को रस्में सुबूही से तो मैं[3] पी है अभी॥
आगे कब तक उठते थे सन्नाहटे से बाग़ में।
तर्ज़[4] मेरे नालः की बुलबुल ने सीखी है अभी॥
ज़ेर दीवार[5] उसके किस उम्मीद पर तू 'मीर' है।
एक दो ने जान इस दर्वाज़े पर दी है अभी॥

---

(६५)

मिल अहलेबसीरत[6] से कुछ शै ही दिखा देंगे।
ले ख़ाक कोई चुपके अकसीर बना देंगे॥
पानी सी वे बूँदें थीं सब अश्क मैं न जाना।
कपड़ों पै गिरेंगी तो वे आग लगा देंगे॥
सरगुश्ता सा फिरता है कहते हैं बियाबाँ में।
गर ख़िज्र मिलेगा तो हम राह बता देंगे॥

१–मोतक़िद = विश्वास करनेवाला। २–एतक़ाद = विश्वास। ३–मै = शराब। ४ तर्ज़ = ढंग। ५–ज़ेरे दीवार = दीवार के नीचे। ६–अहले-बसीरत = बुद्धिमान् लोग।

ऐ काश क़यामत में देवें इसी आशिक़ को[1] ।
गर हुस्ने अमल की वाँ लोगों को जज़ा[2] देंगे ॥
हासिल कड़ी होने का अबरू की कमाँ उसकी ।
देखेंगे चढ़ी जिस दम हम सर को नवा देंगे ॥
माशूक़ों की गरमी भी ऐ 'मीर'! क़यामत है ।
छाती में गले लगकर टुक आग लगा देंगे ॥

---

(६६)

चलो चमन में जो दिल खुले टुक बहम[3] ग़मेदिल कहा करेंगे ।
तयूर[4] ही से बका करेंगे गुलों के आगे बिका करेंगे ॥
क़रार[5] दिल से गया है अबकी कि रुक के घर में न मरियेगा यों ।
बहार आई जो अपने जीते तो सैर करने चला करेंगे ।
हलाक[6] होना मुक़र्ररी[7] है मरज़ से दिल के पै तुम कुढ़ो हो ॥
मिज़ाज साहब अगर उधर है तो हम भी अपनी दवा करेंगे ॥
विसाले खूबाँ[8] न कर तमन्ना[9] कि ज़हृ शीरींलबी[10] से उनके ।
ख़राबो रुसवा जुदा करेंगे हलाक मिलकर जुदा करेंगे ॥
मगर वह रश्के बहार समझे तो रंग अपना भी है ऐसा ।
बरक खिज़ाँ[11] में जो ज़र्द होंगे ग़मेदिल उसपर लिखा करेंगे ॥

१—क़यामत = प्रलय । २—जज़ा = बदला । ३—बहम = आपस में । ४—तयूर = चिड़ियाँ । ५—क़रार = चैन । ६—हलाक = बलि । ७—मुक़र्ररी = निश्चित । ८—विसाले खूबाँ = प्रिय-मिलन । ९—तमन्ना = इच्छा । १०—शीरींलबी = मधुराधर । ११—खिज़ाँ = पतझड़ ।

ग़मे मुहब्बत में 'मीर' हमको हमेशा जलना हमेशा मरना।
सऊबतें[1] ऐसी दिमाग़रफ़्तः कहाँ तलक हम वफ़ा करेंगे॥

---

(६७)

अबकी सफ़र को हमसे वह मह जुदा गया है।
रुखसत[2] में लग गले से छाती जला गया है॥
फ़रहादो क़ैस गुज़रे अब शोर है हमारा।
हर कोई अपनी नौबत दो दिन बजा गया है॥
ज़ोफ़े[3] दिमाग़ से मैं भर कर नज़र न देखा।
क्या देर में पलक से मेरे उठा गया है॥
ऐ 'मीर' शेर कहना क्या है कमाले इन्साँ,
यह भी ख़याल सा कुछ ख़ातिर में आ गया है॥

---

(६८)

यारब ! उसका सितम[4] सहा भी जाय।
पंजा ख़ुरशीदे[5] का कहा भी जाय॥
देख रहिये ख़रामनाज़[6] उसका।
पर किसू पास गर रहा भी जाय॥
दर्दे दिल तूलँ[7] से कहे आशिक़।

१—सऊबत = सख़्ती। २—रुख़सत = बिदाई। ३—ज़ोफ़ेदिमाग़ = दिमाग़ की कमज़ोरी। ४—सितम = अत्याचार। ५—ख़ुरशीद = सूर्य। ६—ख़रामनाज़ = मस्ती की चाल। ७—तूल = वृद्धि।

रूबरू[1] उसके जो कहा भी जाय ॥
हैरते गुल से आबजू ठठका ।
यही बहुत है अगर सहा भी जाय ॥
क्या कोई उस गली में आवे 'मीर' ।
आवे, लोहू में, तो नहा भी जाय ॥

(६६)

अब तर्क कर लिबास तवक्कुल[2] ही कर रहे ।
जैसे कुलाह[3] सर पर रखी दरबदर रहे ॥
उस दश्त[4] से .गुबार हमारा न टुक उठा ।
हम खानुमाँ ख़राब न जाने किधर रहे ॥
आने से इस तरफ़ के तेरे मैंने ग़श[5] किया ।
शिकवा[6] भी उससे कीजिये जिसको ख़बर रहे ॥
जब तक हो खून दिल में जिगर में मज़ः[7] हो नम ।
कुछ भी न जो होवे तो फिर क्या चश्म तर रहे ॥
रहना गली में उसकी न जीते जी हो सका ।
नाचार होके वाँ जो गये अब सो मर रहे ॥
आशिक़ ख़राबहाल तेरे हैं गिरे पडे ।
ज्यूँ लश्करे शिकस्ता परीशाँ असर रहे ॥
ऐब आदमी का है जो रहे इस दयार में ।
मुतलक़[8] जहाँ न 'मीर' रिवाजे हुनर रहे ॥

१—रूबरू = सामने । २—तवक्कुल = कमी । ३—कुलाह = टोपी ।
४—दश्त = जंगल । ५—ग़श = बेहोशी । ६—शिकवा = शिकायत ।
७—मज़ः = पलक । ८—मुतलक़ = ज़रा भी ।

(७०)

अगर हँसता उसे सैरे चमन में अबकी पाऊँगा।
तो बुलबुल आशियाँ[1] तेरा ही मैं फूलों से छाऊँगा।
मुझे गुल उसके आगे खुश नहीं आता कुछ इस पर भी।
जो तू आजरदः[2] होती है गुलिस्ताँ में न जाऊँगा॥
बशारतें[3] ऐ सबा दीजो असीराने क़फ़स[4] को भी।
तसल्ली को तुम्हारी सर पै रख दो फूल लाऊँगा।
दिमाग़े नाज़बरदारी नहीं है कमदिमाग़ी से।
कहाँ तक हर घड़ी के रूठे को पहरों मनाऊँगा॥
खशूनतें[5] बदसलूकी .खुशमगीनी[6] किस लिये आई।
न मुँह को फेरिये. फिर याँ न आऊँगा न जाऊँगा॥
अभी हूँ मुन्तज़िर[7] जाती है चश्मेशौक़ हर जानिब।
बुलन्द इस तेग़ को होने तो दो सर भी झुकाऊँगा॥
बला में ज़ेरसर हूँ काश उफ़तादः[8] रहूँ योंही।
उठा गर ख़ाक से तो 'मीर' हंगामे उठाऊँगा॥

---

(७१)

पहलू से उठ गया है वह नाज़नीं हमारा।
जुज़दर्द अब नहीं है पहलूनशीं हमारा॥

१–आशियाँ = घोंसला। आज़रद: = दुःखी। ३–बशारत = पोषण, सुख, शिगुफ़्तगी। ४–असीराने क़फ़स = पिंजरबद्ध। ५–खशूनत = सख्ती। ६–खुशमगीनी = क्रोध। ७–मुन्तज़िर = इन्तिज़ार करनेवाला। ८–उफ़तादह = दीन।

हो क्यों न सब्ज़ अपने हर्फ़े ग़ज़ल कि है यह।
बेज़रअ[1] सैर हासिल क़तए ज़मीं हमारा॥
कैसा किया जिगर ख़ूँ आज़ार कैसे खींचे।
आसाँ नहीं हुआ दिल अन्दोहगी हमारा॥
हर्फ़ो सख़ुन थे अपने थी दास्ताँ जहाँ में।
मज़कूर भी नही है याँ अब कही हमारा॥
क्या रायगाँ[2] बुतों को देकर हुए हैं काफ़िर।
अरसे पेदर जो अब था यह कोहनः[3]दीं हमारा॥
हालत है निज़अ[4] की याँ आओ कि जाते है हम।
आँखों में मुन्तज़िर है दम वापसीं हमारा॥
एक उम्र महरवरज़ी जिनके सबब से की थी।
पाते है 'मीर' उनको सरगर्मकीं हमारा॥

---

(७२)

तड़पे है ग़मज़दहदिल[5] लावेगा ताब क्योंकर।
खूँ बिस्ता हैंगी आँखें आवेगा ख़ाब क्योंकर॥
मै नातवाँ[6] हूँ मुझ पर भारी है जी ही अपना।
मुझसे उठेंगे उसके नाज़ों अताब क्योंकर॥
इस बहर में है मिटना मुश्किल हुबाबँ[7] हरदम।
उभरा है यह हमेशा नक्शे पुर आब होकर॥

१—बेज़रअ = कृषिहीन, उजाड़। २—रायगाँ = फ़जूल। ३—कोहनःदीं = जर्जर धर्म। ४—निज़अ = बेहोशी। ५—ग़मज़दह दिल = दुःखपूर्ण हृदय। ६—नातवाँ = कमज़ोर। ७—हुबाब = बुलबुला।

पानी के धोके क्या क्या प्यासे अज़ीज़ मारे।
सर पर न ख़ाक डाली अपने सुराब क्योंकर॥
आबे रवाँ न था वह कुछ लुत्फ़ ज़िन्दगानी।
जाती रही जवानी अपनी शिताब क्योंकर॥
सोज़े दिलोजिगर से जलता है तन बदन सब।
मैं क्या कोई हो खींचे ऐसे अज़ाब क्योंकर॥
चेहरा किताबी उसका मजमूआ 'मीर' का है।
एक हर्फ़ इस देहन का होता किताब क्योंकर॥

---

(७३)

रोज़ों में रह सकेंगे हम बेशराब क्योंकर।
गुज़रेगा इत्तिक़ा[1] में अहदेशबाबे[2] क्योंकर॥
थोड़े से पानी में भी चल निकले है उभरता।
बेतह है सर न खींचे एकदम हुबाब क्योंकर॥
दिलके तरफ़ का पहलू सब मुत्तसिल[3] जले है।
मख़मल हो फ़र्श क्यों न आवेगी ख़ाब क्योंकर॥
उजड़े नगर को दिल के देखूँ हूँ जब कहूँ हूँ।
अब फिर बसेगी ऐसी बस्ती ख़राब क्योंकर॥
पेशअज़सेहर[4] उठे है आज उसके मुँह का परदा।
निकलेगा इस तरफ़ से अब आफ़ताबे[5] क्योंकर॥

१—इत्तिक़ा = सब्र, दीनता। २—अहदे शबाब = यौवनावस्था। ३—मुत्तसिल = लगातार। ४—पेशअज़सेहर = प्रातःकाल से पूर्व। ५—आफ़ताब = सूर्य।

ख़त 'मीर' आह जावे जो निकले राह इधर की।
कोई नहीं है क़ासिद[1] लावे जवाब क्योंकर ॥

---

(७४)

लावे झमकते रुख़ की आइना ताब क्योंकर।
हो चेहरा उसके लब से याक़ूतनाब क्योंकर ॥
है शेर शायरी को कब से शआर अपना।
हर्फ़ो सख़ुन से करिये अब इजतनाब[2] क्योंकर ॥
जूँ अब्र गर न रो दें वादी व कोह पर हम।
तो शहरों शहरों आवे शहरों में आब क्योंकर ॥
अब भी नहीं है हमको ऐ इश्क नाउमेदी।
देखें ख़राब होवे हाले ख़राब क्योंकर ॥
उड़ उड़के जा लगे हैं वह तीरमार काकुल।
खाता रहे न अफ़ई[3] फिर पेचोताब क्योंकर ॥
चश्मे मुहीत से जो होवे न चश्मतर के।
तो सेर हो हवा पर पहले सहाब क्योंकर ॥
अब तो तपिश ने दिल की ऊधम मचा रखा है।
तसकीन पावे देखूँ यह इज़तराब क्योंकर ॥
रू चाहिये है उसके दर पर भी बेठने को।
हम तो ज़लील उसके हों 'मीर' बावें[4] क्योंकर ॥

१—क़ासिद = हरकारा, दूत । २—इजतनाब = परहेज़ करना ।
३—अफ़ई = साँप । ४—बाब = दर्वाज़ा ।

(७५)

एक आध दिन निकल मत ऐ अब्र[1] उधर से होकर।
बैठा हूँ मैं भी अब तक सारा जहाँ डुबोकर॥
कहते हैं राह पाई शाहिद ने उस गली की।
जरना नहीं न आवे ईमानोदी को खोकर॥
है नज़्म[2] का सलीक़ा हरचन्द सबको लेकिन।
जब जानें कोई लावे यों मोती से पिरोकर॥
गो तेरे होंठ ज़ालिम आवेहयात[3] हों अब।
क्या हमको जी की, बैठे हम जी से हाथ धोकर॥
किस किस अदा से फ़िले करते हैं क़स्दे[4] उधरका॥
जब वेदिमाग़ से तुम उठ बैठते हो सोकर॥
अहवाल 'मीर' जी का मुतलक़[5] गया न समझा।
कुछ ज़ेरे लब कहा भी सो देर देर रोकर॥

---

(७६)

आया न फिर इधर वह मस्ते शराब होकर।
क्या फूल मर गये हैं उस बिन ख़राब होकर॥
सैदे ज़बूँ में मेरे एक क़तरा ख़ून निकला।
ख़ंजर तले बहा मैं ख़िजलत[6] से आब[7] होकर॥

१—अब्र = बादल । २—नज़्म = पद्य । ३—आवेहयात = अमृत ।
४—क़स्द = विचार, निश्चय । ५—मुतलक़ = ज़रा भी । ६—ख़िजलत = शर्म ।
७—आब = पानी ।

वादा विसाल[1] का है कहते हैं हश्र[2] के दिन।
आना ही होगा लेकिन वाँ से शिताब होकर॥
यक क़तरा आब उस बिन मैंने अगर पिया है।
निकला है 'मीर' पानी वह ख़ूने नाब होकर॥

---

(७७)

ग़मे हिजराँ में घबराकर उठा मैं।
तरफ़ गुलज़ार[3] के आया चला मैं॥
शिगुफ़्ताख़ातिरी उस बिन कहाँ थी।
चमन में ग़ुन्चा[4] पेशानी रहा मैं॥
किसू से दिल नहीं मिलता है यारब!
हुआ था किस घड़ी उनसे जुदा मैं॥
तआरुफ़[5] हमसफ़ीरों से नहीं कुछ।
हुआ हूँ एक मुद्दत में रिहा मैं॥
गया सब आख़िर आज़ारे दिली पर।
बहुत करता रहा दारू दवा मैं॥
न उनक़ा[6] का कहीं नामो निशाँ था।
हुआ था शोहरा जब नामेख़ुदा मैं॥
हुआ था 'मीर' मुश्किल इश्क़ में काम।
किया पत्थर जिगर तब की दवा मैं॥

१—विसाल = मिलन। १—हश्र = प्रलय। ३—गुलज़ार = उद्यान। ४—गुन्चा = कली, मुकुलितपुष्प। ५—तआरुफ़ = परिचय। ६—उनक़ा = एक बड़ी चिड़िया।

(७८)

हुस्न[1] क्या जिन्स है जी उस पै लगा बैठे हैं।
आज यों शहर के बाज़ार में आ बैठे हैं॥
हम वे हरचन्द कि हमख़ाना हैं दोनों लेकिन।
रविशे आशिक़ो माशूक़ जुदा बैठे हैं॥
इन सितमकुश्तों[2] को है इश्क़ कि उठकर एकबार।
तेग़े ख़ूँख़ार[3] तले यार के जा बैठे हैं॥
क्योंकि यों उसका ख़याल आवे कि आगे ही हम।
दिल सा घर आतिशी आहों से जला बैठे हैं॥
पेश रूदस्त हुआ है वही शै[4] ख़ाहिश है।
और सब चीज़ से हम हाथ उठा बैठे हैं॥
सारी रात आँखों के आगे ही मेरे रहता है।
गोकि वे चाँद से मुखड़े को छिपा बैठे हैं॥
क्या कहूँ आये चले घर से तो एक शोख़ी से।
पाँव के नीचे मेरे हाथ दबा बैठे हैं॥
क़ाफ़िला क़ाफ़िला जाते हैं चले क्या क्या लोग।
'मीर' ग़फ़लत[5] ज़दह हैरान से क्या बैठे हैं॥

---

(७९)

मैकशी[6] सुबहो शाम करता हूँ।
फ़ाक़ामस्ती मुदाम[7] करता हूँ॥

१—हुस्न = सौन्दर्य। २—सितमकुश्तः = अत्याचारदग्ध। ३—ख़ूँख़ार = रक्तपिपासु। ४—शै = वस्तु। ५ = ग़फ़लत ज़दह = भ्रम में पड़े हुए। ६—मैकशी = मद्यपान। ७—मुदाम = सदैव।

कोई नाकाम यों रहे कब तक।
मैं भी अब एक काम करता हूँ॥
या तो लेता हूँ दादे दिल या अब।
काम अपना तमाम करता हूँ॥

---

(८०)

यही इश्क़ है जी खपा जानता है।
कि जानाँ[1] से जी भी मिला जानता है॥
बदी में भी कुछ ख़ूबी होवेगी तबतो।
बुरा कहने को वह भला जानता है॥
मेरा शेर अच्छा भी दानिस्तः ज़िद से।
किसू और ही का कहा जानता है॥
ज़माने के अकसर[2] सितमगार[3] देखे।
वही ख़ूब तर्ज़े जफ़ा[4] जानता है॥
नहीं जानता हर्फ़े ख़त[5] क्या हैं लिक्खे।
लिखे को हमारे मिटा जानता है॥
न जाने जो बेगाना तो बात पूछे।
वह मग़रूर[6] कब आशना जानता है॥
नहीं इत्तिहादे[7] तनोजाँ से वाक़िफ़।
हमें यार से जो जुदा जानता है॥

१—जानाँ = प्रियतम। २—अकसर = प्रायः। ३—सितमगार = अत्याचारी। ४—तर्ज़े जफ़ा = अत्याचार करने का ढंग। ५—हर्फ़े ख़त = भाग्य-लिपि। ६—मग़रूर = अहंकारी। ७—इत्तिहाद = मेल।

(८१)

तेरे बन्दे हम हैं .खुदा जानता है।
.खुदा जाने तू हमको क्या जानता है॥
नहीं इश्क़[1] का दर्द लज्ज़त[2] से ख़ाली।
जिसे ज़ौक़ है वह मज़ा जानता है॥
हमेशा दिल अपना जो बेजा है उस बिन।
मेरे क़त्ल को जा बजा जानता है॥
किये ज़ेर बुरक़ः गये गेसुओं में।
ग़रज़ .खूब वह मुँह छिपा जानता है॥
मुझे जाने है आप साही फ़रेबी।
दुआ को भी मेरे दग़ा जानता है॥
जफ़ा[3] उस पै करता है हद से ज़ियादह।
जिन्हें यार अहले वफ़ा जानता है॥
उसे जब न तब हमने बिगड़ाही पाया।
यही अच्छे मुँह को बना जानता है॥
बला शोरअंगेज़[4] है चाल उसकी।
इसी तर्ज़ को .खुशनुमा जानता है॥
न गरमी जलाती थी ऐसी न सरदी।
मुझे यार जैसा जला जानता है॥
यही है सज़ा चाहने की हमारी।
हमें कुश्तः खूँ की सज़ा जानता है॥

१-इश्क़ = प्रेम। २-लज़्ज़त = स्वाद। ३-जफ़ा = अत्याचार।
४-शोरअंगेज़ = शोर से भरा हुआ।

मेरे दिल में रहता है तू ही तभी तो।
जो कुछ दिल का है मुद्दआ[1] जानता है॥
परी उसके साये[2] को लग भी सके न।
वह इस जिन्स को क्या बला जानता है॥
जहाँ 'मीर' आशिक़ हुआ ख़ार[3] ही था।
यह सौदाई[4] कब दिल लगा जानता है॥

---

(८२)

आग ऐसी है लगी अब कि जले जाते हैं।
मुत्तासिल[5] शमअ[6] से रोते हैं घुले जाते हैं॥
इस गुलिस्ताँ से नमूदँ[7] अपना है जूँ आबेरवाँ[8]।
दम बदम मरतबे से अपने चले जाते हैं॥
तन बदन हिज्र[9] में क्या कहिये कि कैसा सूखा।
हलक़े भी पाँव में तंगी से हिले जाते हैं॥
ख़ाके पा[10] उसकी है शायद किसू का सुरमएचश्म।
ख़ाक में अहले नज़र इससे रले जाते हैं॥
गर्म हैं उसकी तरफ़ जाने को हम लेकिन 'मीर'।
हर क़दम ज़ोफ़े मुहब्बत[11] से ढले जाते हैं॥

१–मुद्दआ = आशय। २–साया = छाया। ३–ख़ार = बेइज़्ज़त। ४–सौदाई = पागल। ५–मुत्तसिल = लगातार। ६–शमअ = मोमबत्ती। ७–नमूद = प्रगट। ८–आबेरवाँ = बहता पानी। ९–हिज्र = वियोग। १०–ख़ाके पा = पद धूरी। ११–ज़ोफ़े मुहब्बत = प्रेमजन्य शिथिलता।

(८३)

उससे घबराके जो कुछ कहने को आ जाता हूँ।
दिल की फिर दिल में लिये चुपके चला जाता हूँ।
सई[1] दुश्मन को नहीं तर्क[2] मेरी ईज़ा[3] में।
रंज से इश्क़ के मैं आपी खपा जाता हूँ॥
इस्तक़ामत से हूँ जूँ कोहक़वी दिल लेकिन।
ज़ोफ़ से इश्क़ के ढहता हूँ गिरा जाता हूँ॥
मजलिसे यार में तो बाज़ नहीं पाता हूँ।
दरो दीवार को अहवाल सुना जाता हूँ॥
एक वियावाँ है मेरी बेकसी व बेचैनी।
मिस्लें[4] आवाज़े जरसँ[5] सब से जुदा जाता हूँ॥

---

(८४)

बहार आई मिज़ाजों की सभी तदबीर करते है।
जवानों को इन्हीं अय्याम[6] में ज़ंजीर करते हैं॥
बरहमन ज़ादगाने हिन्द क्या परकार सादे हैं।
मुसलमानों की यारानी ही में तकफ़ीरँ[7] करते हैं॥
तमाशा देखना मंजूर हो तो मिल फक़ीरों से।
कि जिनकी ख़ाक को ले हाथ में अकसीर करते हैं॥

१-सई = धैर्य। २-तर्क = त्याग। ३-ईज़ा = दुःख। ४-मिस्ल = समान। ५-आवाज़े जरस = घौसे का शब्द। ६-अय्याम = दिन। ७-तकफ़ीर = घृणा।

न लिखते थे कभू एक हर्फ़ तक इस हाथ से अपने ।
सो काग़ज़ दस्ते के दस्ते अब हम तहरीर करते हैं ॥
दरो दीवार उफ़्तादः को भी काश एक नज़र देखें ।
इमारत साज़[1] मरदुम घर जो अब तामीर[2] करते हैं ॥

---

(८५)

शोख़चश्मी तेरी पर्दे में है जब तक तब तक ।
हम नज़रबाज़ भी आँखों की हया करते हैं ॥
नफ़ा बीमारिए इश्क़ी को करे क्या मालूम ।
यार मक़दूर[3] तलक अपनी दवा करते हैं ॥
उसकी क़ुर्बानियों की सबसे जुदा है वह रस्म ।
अव्वलन वादा दिलो जान फ़िदा करते हैं ॥
रश्क एक आध का जी मारता है आशिक़ का ।
हर तरफ़ उसको तो दो चार दुआ करते हैं ॥
बन्द बन्द उनकी जुदा देखूँ इलाही मैं भी ।
मेरे साहब को जो बन्दे से जुदा करते हैं ॥
दिल को जाना था गया रह गया है अफ़साना[4] ।
रोज़ोशबें[5] हम भी कहानी सी कहा करते हैं ॥
वाँ से एक हर्फ़ो हिकायत भी न लाया कोई ।
याँ से तूमार के तूमार चला करते हैं ॥

१—इमारत साज़ = भवन-निर्माता । २—तामीर = निर्माण । ३—मक़दूर = ताक़त । ४—अफ़साना = क़िस्सा । ५—रोज़ोशब = रात दिन ।

बूदो बाश ऐसे ज़माने में कोई क्योंकर करे।
अपनी बदख़ाही जो करते हैं भला करते हैं॥
हौसिला चाहिये जो इश्क़ के आज़ार खींचे।
हर सितमो जुल्म पर हम सब्र किया करते हैं॥
'मीर' क्या जाने किसे कहते हैं वाशिदं[1] वे तो।
गुन्चःख़ातिर से गुलिस्ताँ में रहा करते हैं॥

---

(८६)

दिल को लिखूँ हूँ आह वह क्या मुद्दआ लिखूँ
दीवानों को जो ख़त लिखूँ बतलाओ क्या लिखूँ॥
क्या क्या लक़ब[2] हैं शौक़ के आलम में यार के।
कावा लिखूँ कि क़िबला उसे या ख़ुदा लिखूँ॥
हैराँ हो मेरे हाल में कहने लगा तबीब[3]।
इस दर्दमन्दे इश्क़ की मैं क्या दवा लिखूँ॥
कुछ रूबरू हुए पे जो सुलझे तो सुलझे 'मीर'।
जी के उलझने का उसे क्या माजरा लिखूँ॥

---

(८७)

बाद हमारे इस फ़न का जो कोई माहिर[4] होवेगा।
दर्दागीं अन्दाज़ की बातें अकसर पढ़-पढ़ रोवेगा॥
चश्म तमाशा वा[5] होवे तो देखा भाला ग़नीमत है।
मत मूँदे आँखों को ग़ाफ़िल नतो देरतलक फिर सोवेगा॥

१-वाशिद = खिला हुआ। २-लक़ब = पदवी, विशेषण। ३-तबीब डाक्टर। ४-माहिर = पण्डित। ५-वा = प्रगट।

(८८)

लाखो फ़लक की आँखें सब मुँद गईं इधर से ।
निकली न नाउमेदी क्योंकर मेरी नज़र से ॥
बरसे है इश्क़ याँ तो दीवार और दर से ।
रोता गया है हर एक जूँ अब मेरे घर से ॥
जो लोग चलते फिरते याँ छोड़कर गये थे ।
देखा न अबकी उनको आये जो हम सफ़र से ॥
क़ासिद किसू ने मारा ख़त राह में से पाया ।
जब से सुना है मैने वहशत है इस ख़बर से ॥
सौ बार हमतो तुम बिन घर छोड़ छोड़ निकले ।
तुम एक बार याँ तक आये न अपने घर से ॥
छाती के जलने से यह शायद है आग सुलगी ।
उठने लगा धुआँ अब मेरे दिलो जिगर से ॥
झड़ बाँधने का हम भी देंगे दिखा तमाशा ।
टुक अब्र क़िबला आकर आगे हमारे बरसे ॥
सौ नाम बर कबूतर कर ज़िबह उनने खाये ।
ख़त चाक उड़े फिरे हैं उसकी गली में पर से ॥
आख़िर गुजिश्तः चश्मे नज़्ज़ारः हो गये हम ।
टुक देखने को उसके बरसों महीनों तरसे ॥
अपना वसूल मतलब औरी किसू से होगा ।
मंज़िल पहुँच रहेंगे हम ऐसी रहगुज़र से ॥
सर दे दे मारते हैं हिजराँ में 'मीर' साहब ।
यारब छुड़ा तू उनको चाहत के दर्द सर से ॥

---

(८९)

काफ़िर बुतो से मिलके मुसलमान क्या रहे।
हो मुख़्तलिफ़[1] जो इनसे तो ईमान क्या रहे॥
शमशीर[2] उसकी हिस्सा बराबर करे है दो।
ऐसी लगी है एक तो अरमान क्या रहे॥
है सर के साथ मालो मुनाल आदमी का सब।
जाता रहे जो सर ही तो सामान क्या रहे॥
वीरानिए बदन से मेरा जी भी है उदास।
मंज़िल ख़राब होवे तो मेहमान क्या रहे॥
हालत ख़राब जिस्म है जी जाने की दलील।
जब तन में हाल कुछ न रहे जान क्या रहे॥
जब से जहाँ है तब से ख़राबी यही है 'मीर'।
तुम देखकर ज़माने को हैरान क्या रहे॥

(९०)

चश्म रहने लगी पुर आब बहुत।
शायद आवेगा ख़ूने नाब बहुत॥
देरो[3] काबे में उसके ख़ाहिशमन्द।
होते फिरते हैं अब ख़राब बहुत॥
दिल के दिल ही में रह गये अरमाँ।
कम रहा मौसिमे शबाबे[4] बहुत॥
मारना आशिक़ों का गर है सवाबे[5]।

१—मुख़्तलिफ़ = विभिन्न। २—शमशीर = तलवार। ३—देर = मन्दिर
४—शबाब = यौवन। ५—सवाब = पुण्य।

तो हुआ है तुम्हें सवाब बहुत ॥
कहिये बेपरदः क्योंकि आशिक़ हैं ।
हमको लोगों से है हिजाबें[1] बहुत ॥
'मीर' बेख़ुद हैं उस जनाब से अब ।
चाहिये सबको इज़्तिनाबें[2] बहुत ॥

---

(९१)

बेकली बेख़ुदी कुछ आज नहीं ।
एक मुद्दत से वह मिज़ाज नहीं ॥
ज़र्दी गिरियः है तो मुझे बस है ।
अब दवा की कुछ एहतियाजें[3] नहीं ॥
हमने अपने से की बहुत लेकिन ।
मर्ज़ इश्क़ का इलाज नहीं ॥
शहर ख़ुबी को ख़ूब देखा 'मीर' ।
जिन्स दिल का कहीं रिवाज नहीं ॥

---

(९२)

आ निकले थे जो हज़रते 'मीर' इस तरफ़ कहीं,
मैंने किया सवाल यह उनकी जनाब में ।
हज़रत सुनो तो मैं भी तअल्लुक़[4] करूँ कहीं,
फ़रमाने लगे रोके यह उसके जवाब में ।

१–हिजाब=लाज । २–इज़तिनाब=घृणा, उपेक्षा । ३–एहतियाज=आवश्यकता । ४–तअल्लुक़=सम्बन्ध ।

तू जान ले कि तुझसे भी आये जो कल थे यां,
है आज सिर्फ़ ख़ाक जहाने ख़राब में।

---

(९३)

जिनके लिये अपने तो यों जान निकलते हैं।
इस राह में ये जैसे अनजान निकलते हैं॥
क्या तीरे सितम उसके सीने में भी टूटे थे।
जिस ज़ख़्म को चीरूँ हूँ पैकाने[1] निकलते हैं॥
मत सहल हमें जानो फिरता है फ़लक[2] बरसों।
तब ख़ाक के परदे से इन्सान निकलते हैं॥
गह[3] लोहू टपकता है गह लख़्ते दिल आँखों से।
या टुकड़े जिगर ही के हर आन निकलते हैं॥
करिये तो गिला किससे जैसी थी हमें ख़्वाहिश।
अब दिल से ही यह अपने अरमान निकलते हैं॥
सो काहे को अपनी तो जोगी की सी फेरी है।
बरसों में कभू ईधर हम आन निकलते हैं॥
इन आइनारूयों के क्या 'मीर' भी आशिक़ है।
जब घर से निकलते हैं हैरान निकलते हैं॥

(९४

तुझ इश्क़ में तो मरने को तैयार बहुत हैं।
यह जुर्म है तो ऐसे गुनहगार बहुत हैं॥

१—पैकान = गाँस। २—फ़लक = आकाश। ३—गह = कभी।

एक ज़ख्म को मैं रेज़ए अलमास[1] से चीरा।
दिल पर अभी जराहते नौकार बहुत हैं॥
कुछ अँखड़ियाँ है इसकी नहीं एक बला कि बस।
दिल ज़ीनहार देख ख़बरदार बहुत हैं॥

---

(९५)

बज़्म[2] में जो तेरा ज़हूर[3] नहीं।
शमअ रोशन के मुँह पर नूर[4] नहीं॥
कितनी बातें बनाके लाऊँ एक।
याद रहती तेरी हुज़ूर नहीं॥
फ़िक्र मत कर हमारे जीने की।
तेरे नज़दीक कुछ यह दूर नहीं॥
फिर जियेंगे जो तुझसा है जाँबख़्श।
ऐसा जीना हमें ज़रूर नहीं॥
आलम है यार की तजल्ली 'मीर'।
ख़ास मूसा व कोहेतूर नहीं॥

---

(९६)

"सौदाई[5] व रुसवा बशिकस्तः दिलो ख़िस्तः[6]।
अब लोग हमें इश्क़ में क्या क्या न कहेंगे॥

१—रेज़ए अलमास = हीरे का टुकड़ा, कनी। २—बज़्म = महफ़िल। ३—ज़हूर = उपस्थिति, दर्शन। ४—नूर = प्रकाश। ५—सौदाई = पागल। ६—दिलोख़िस्तः = भग्न-हृदय।

देखे सो कहे कोई नहीं जुर्म किसू का।
कहते है बजा लोग भी बेजा न कहेंगे॥
वीराने को मुद्दत के कोई क्या करे तामीर[1]।
उजड़ी हुई आबादी को वीराना कहेंगे॥
मौक़ूफ़[2] ग़मेमीर कि शब हो चुकी हमदम।
कल रात को फिर बाक़ी यह अफ़साना कहेंगे॥

---

(६७)

फ़लक गिरने के क़ाबिल आसमाँ है।
कि यह पीरानःसर जाहिल जवाँ है॥
गये इन क़ाफ़िलों से भी उठी गर्द।
हमारी ख़ाक क्या जानें कहाँ है॥
बहुत नामेहरबाँ रहता है याने।
हमारे हाल पर कुछ मेहरबाँ हैं॥
हमें जिस जा पै कल ग़श आ गया था।
वहीं शायद कि उसका आसताँ[3] है॥
चली जाती है धड़कों ही में जाँ भी।
यहीं से कहते हैं जाँ को रवाँ है॥
उसी का दम भरा करते रहेंगे।
बदन में अपने जबतक नीमजाँ[4] है॥
पड़ा है फूल घर में काहे को 'मीर'।
झमक है गुल की बर्क़[5] आशियाँ है॥

१—तामीर = निर्माण, बनाना। २—मौक़ूफ़ = स्थगित। ३—आसता = निवासस्थल। ४—नीमजाँ = अर्द्धप्राण। ५—बर्क़ = बिजली।

(९८)

कहो तो कब तलक यों साथ तेरे प्यार रहे।
कि देखा जब तुझे तब जी को मार मार रहे॥
अदा वो नाज़ से दिल ले चला तो हँसके कहा।
कि मेरे पास तुम्हारी भी यादगार[1] रहे॥
हम आप से जो गये हैं गये हैं मुद्दत से।
इलाही अपना हमें कब तक इन्तिज़ार[2] रहे॥
हविसे[3] असीरों[4] की टुक दिल की निकली कुछ शायद।
कोई दिन और अगर मौसिमे बहार रहे॥
उठा जो बाग़ से मै बेदिमाग़ तो न फिरा।
हज़ार मुर्गे गुलिस्ताँ मुझे पुकार रहे॥
लिया तो जावे भला नाम मुँह से यारी का।
जो हम सितमज़दों से यार कुछ भी यार रहे॥
विसालो हिज्र ठहर जावे कुछ न कुछ आख़िर।
जो बेक़रार मेरे दिल को भी क़रार रहे॥
करेंगे छाती को गुलज़ार हम जलाकर दाग़।
जो गुल भी सीने में ऐसा ही ख़ार ख़ार रहे॥
बकूहूँ एक सा मैं गिर्द राह के उसके।
न क्योंकि मेरी दोनों आँखों में ग़ुबार रहे॥
न करते गिरियए बेइख़्तियार हरगिज़ 'मीर'।
जो इश्क़ करने में दिल पर कुछ इख़्तियार[5] रहे॥

१—यादगार = स्मारक। २—इन्तिज़ार = प्रतीक्षा। ३—हविस = लालच। ४—असीर = क़ैदी। ५—इख़्तियार = वश।

(९९)

तकिये हैं अपने दिल का हम ग़म किया करे हैं।
[1]दरवेश कितने मातम बाहम[2] किया करे हैं॥
जब नाम दिल का कोई ले बैठता है नागह[3]।
मुँह देख हमसफ़र का मातम किया करे हैं॥
मस्तों की बात क्या है जो कोई उस प जावे।
हम गुफ़्तगू नशे में दरहम[4] किया करे हैं॥
हुक्मे फ़िसानासाज़ी पैदा करे है शब को।
अफ़सोस उसके ऊपर जो दम दिया करे हैं॥
कुछ हाल 'मीर' जी के आते नहीं समझ में।
हम भी सलूक उनसे अब कम किया करे हैं॥

---

(१००)

दुख अब फ़िराक़ का मुतलक़ सहा नहीं जाता।
फिर इस पै ज़ुल्म यह है कुछ कहा नहीं जाता॥
हुई है इतनी तेरी अक्स ज़ुल्फ़ की हैरान।
कि मौजे बहर से मुतलक बहा नहीं जाता॥
सितम कुछ आज गली में तेरी नहीं मुझ पर।
कब आके ख़ूँ में भला याँ नहा नहीं जाता॥
ख़राब मुझको किया इज़्तिरावे दिल ने 'मीर'।
कि टुक भी उस कने उस बिन रहा नहीं जाता॥

१–दरवेश = फ़क़ीर। २–बाहम = आपस में। नागह = एकाएक, संयोगवश। ४–दरहम = टूटीफूटी, जर्जर।

उपसंहार-भाग

जानने योग्य बातें

उर्दू और फ़ारसी की कविता में हिन्दी और संस्कृत की भाँति भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है। जिन छन्दों या छन्द-सम्बन्धी जिन शब्दों के नाम इस पुस्तक में आये हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दे देना उपयोगी होगा।

१–*मिसरा*—एक सुसंस्कृत एवं सुसङ्गठित पद्यवाक्य; चरण।

२–*शेर*—दो हमवज़न (सममात्रिक) मिसरो का संयोग।

३–*बेत*—शेर का एक प्रकार।

४–*क़ाफ़िया*—बेत का आख़िरी शब्द जो बदला करता है।

५–*रुबाई*—(चतुष्पदी) चार मिसरों की या दो बेत की होती है। इसके पहले दूसरे और चौथे मिसरे ज़रूर हमक़ाफ़िया होते हैं। यदि चारो हों तो और अच्छा है। इसका एक विशेष वज़न होता है। थोड़े-थोड़े भेद से इसके चौबीस वज़न हो जाते हैं। उदाहरण—

(अ) *गर लाख बरस जिये तो फिर मरना है,*
पैमानये उम्र एक दिन भरना है।
हाँ तो शये आख़िरत मुहइया कर ले,
ग़ाफ़िल तुझे दुनिया से सफ़र करना है॥

(ब) *मिट्टी में मिले जाते हैं, मस्ती कैसी,*
देखो तो बलन्दों को है पस्ती कैसी?
चुपचाप पड़ी सोती है दुनिया 'बिस्मिल',
यह शहरे ख़मोशाँ की बस्ती कैसी!

(स) है जलवये हक़ काबये अक़दस क्या है ?
आये न समझ में तो मेरा बस क्या है ?
आई है तबीयत जो बुतों पर 'बिस्मिल',
हमसे कोई पूछे कि बनारस क्या है ?

६—*मतलअ*—ग़ज़ल के प्रथम शेर को जिसके दोनों मिसरे हम-क़ाफ़िया होते हैं, मतलअ कहते हैं।

७—*ग़ज़ल*—इसका शाब्दिक अर्थ है कि 'माशूक़ के साथ खेलना', 'औरतों से बातचीत' (देखिये 'फ़रहंग आसफ़िया')। आकार के विचार से चन्द बेतों का योग है जो वज़न और क़ाफ़िये में यकसाँ हों। प्रथम शेर के दोनों मिसरे हमक़ाफिया (समतुकान्त) होते हैं (और इसी को 'मतलअ' कहते हैं) और शेष के अन्तिम। एक ग़ज़ल में चन्द मतले हों तो अच्छा है। प्राचीन आचार्यों के मत से ग़ज़ल के बेतों की संख्या सात से बारह-तेरह तक होनी चाहिये; किन्तु आधुनिक मर्मज्ञों ने उसे बढ़ाकर बीस-पचीस तक कर दिया है। अर्थ के विचार से प्रत्येक शेर 'मुक्तक' की भाँति भिन्न-भिन्न आशय का होता है; किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सम्पूर्ण ग़ज़ल एक ही मज़मून पर कही गई हो; क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने इसके लिये कोई बंधन नहीं रखा है। जैसा इसके शब्दार्थ से विदित होता है, ग़ज़ल निकाली तो इसलिये गई थी कि इसमें केवल शृंगार-विषय का वर्णन रहे; किन्तु पीछे से लोग इसमें गूढ़ दार्शनिक

विचारों, उपदेशमय विनोद एवं अन्यान्य विषयों का वर्णन भी करने लगे।

८-*मक़तअ*—ग़ज़ल का अन्तिम शेर 'मकतअ' कहलाता है। अब तो यह रिवाज-सा हो गया है कि इसमें शायद अपना तख़ल्लुस (उपनाम) अवश्य देता है; किन्तु फारस के प्राचीन आचार्यों और अरब के कवियों का यह मत नहीं है। उर्दू के पुराने कवियों ने भी इसका कोई ख़ास विचार नहीं किया है।

९-*क़सीद*—आकार-प्रकार में ग़ज़ल की भाँति होता है; किन्तु इसमें शेरों की संख्या नियत नहीं है। प्रायः सौ-डेढ़ सौ बेत तक होता है। अर्थ के विचार से क़सीदे में एक ही विषय होता है। निन्दा, प्रशंसा वा उपदेश ही इसके मुख्य अंग हैं। उर्दू में 'सौदा' के क़सीदे मशहूर हैं।

१०-*क़िता*—सूरत में क़सीदे की तरह होता है। अन्तर इतना ही है कि इसमें मतलअ नहीं होता।

११-*मसनवी*—यह एक छोटा छन्द है। सूरत इसकी यह है कि कुछ शेर एक वज़न के हों; किन्तु हर शेर का क़ाफ़िया अलग हो। विषय एक ही होना चाहिये। उर्दू में मीरहसन एवं दयाशंकर 'नसीम' की मसनवियाँ मशहूर हैं।

१२-*मुसल्लस*—त्रिपदी; जिसका हर बन्द तीन मिसरे का हो और तीसरा प्रत्येक स्थान पर समान क़ाफ़िया रखता हो।

१३-*मुखम्मस*—पंचपदी। मुसल्लस के ही ढंग का, पर पाँच मिसरों का, होता है। पाँचवाँ हर जगह यकसाँ क़ाफ़िया रखता हो।

१४-*मुसद्दस*—षटपदी; चार मिसरे हमक़ाफ़िया और एक मतलअ़। 'हाली' ने इस छन्द में बड़ी सफलता प्राप्त की है।

१५-*मरसिया*-किसी प्रकार की रचना, जिसमें किसी की मृत्यु पर शोक वा करुणा उत्पन्न करने की चेष्टा की गई हो। उर्दू में नासिख़ के मरसिये मशहूर हैं।

१६-*तारीख़ कहना*--किसी प्रकार की पद्य-रचना, जिसके शब्दों का सांख्यिक मूल्य जोड़कर किसी घटना का समय निकालते हैं।

उर्दू-कविता के विशेष शब्द

१-*लैला-मजनूँ*—अरबी, फ़ारसी एवं उर्दू भाषा के साहित्य में इन दोनों प्रेमियों की कथाओं की भरमार है। सबने कहीं-न-कहीं इनका वर्णन अवश्य किया है। प्रत्येक देश ने अपनी सहृदय भावनाओं का एक-न-एक आदर्श बना लिया है—चाहे वह आदर्श ऐतिहासिक हो वा काल्पनिक। हमारे यहाँ राधाकृष्ण जैसे प्रेम के अगाध आदर्श हैं, अरब के सहृदय प्रेमियों के लिये लैला-मजनूँ उसी प्रकार प्रेम के मूर्त्तिमान आदर्श हैं। प्रायः सभी सहृदय युवक इनकी कथाओं से परिचित

हैं; अतएव यहाँ विस्तारपूर्वक उनका लिखना अप्रासंगिक ही होगा।

२—*शीरीं-फ़रहाद*—ये दोनों ईरान की प्रसिद्ध प्रेमी आत्माएँ थीं। ग़रीब फरहाद, निष्ठुरहृदया शीरीं का जख्मी प्रेमी था। शीरी भी उसे चाहती थी; पर परिस्थितियों के दबाव से उसकी शादी ईरान के सम्राट् 'ख़ुसरो परवेज़' से हो गई! ख़ुसरो ने कहलाया कि अमुक पहाड़ तोड़कर एक नहर निकालो तब तुम्हारी इच्छा पूरी की जा सकेगी। उस मतवाले प्रेमी ने स्वीकार कर लिया। नहर जब करीब-क़रीब खुद चुकी थी तब उसकी सफलता की सभावना से ख़ुसरो ने षड्यंत्र रचा। एक नकली जनाजा निकाला जो उधर से ही होकर गया, जहाँ फरहाद नहर के कार्य में व्यस्त था। उससे कहा गया कि 'शीरीं तो मर गई; यह नहर अब किसके लिये खोद रहे हो।' सुनते ही उसने जमीन खोदनेवाले उस अस्त्र को कलेजे में मार लिया और मर गया। जब शीरीं ने यह बात सुनी तो पागल हो गई। उसकी लाश पर दौड़ी गई और देर तक रोई। फिर जहर खाकर उसी की लाश पर गिर पड़ी। मनुष्यता आज भी अपने आँसुओं से इनकी स्मृति को सींच रही है।

३-*ख़िज्र*—हज़रत ख़िज्र इस्लामधर्म के प्रसिद्ध पैग़म्बर हैं, जिन्हें 'लोमस' की भाँति अनन्त आयु मिली है; वे अमर हैं और भूले-भटकों को रास्ता दिखाया करते हैं।

४-*यूसुफ़*—हज़रत याक़ूब अलस्सलाम के पुत्र थे, जिन्हें इनके चचेरे भाइयों ने शिकार खेलते समय बहकाकर एक कुँए में झोंक दिया, फिर बड़ी मुसीबतों के बाद कुँएँ से सौदागरों के एक गिरोह द्वारा निकाले जाकर ग़ुलामों की भाँति बाज़ार में बेचे गये। पीछे की कथा बहुत लम्बी है। ख़ूबसूरती में अपना सानी नहीं रखते थे। अजीजे मिश्र की पत्नी जुलेखा इन पर मोहित हुई थी और उसी के अनुरोध से वहाँ के बादशाह ग़ाज़न ने इन्हें ख़रीदा था। सौन्दर्य और आपत्तियों के सम्बन्ध में ही उर्दू-कविता में इनका ज़िक्र आता है।

५-*साक़ी*—शराब पिलानेवाला, ईश्वर, माशूक़।

६-*मै*—शराब; प्रेम।

७-*अर्श*—स्वर्ग की आठवीं वा नवीं 'स्टोरी', जहाँ ख़ुदा रहता है।

८-*तूर*—अरब के उत्तर-पश्चिम की एक पहाड़ी, जहाँ हज़रत मूसा को ईश्वरीय ज्योति के दर्शन हुए थे।

९-*सुबूही*—सुबह पी जानेवाली शराब।

१०-*जुलेख़ा*—ऐसी सुन्दरी, जिसे देखकर मन में राग का संचार हो। देखो—नं० ४ यूसुफ़।

११-*संबुल*—एक प्रकार की घास, जिसकी तशबीहा (उपमा) माशूक़ की ज़ुल्फ़ से देते हैं।